विषय–सूची

क्रमांक	विषय		पृष्ठ संख्या
1	मानव जीवन पर सन्त के विचार	...	1
2	जीव ब्रह्म और परमात्मा की व्याख्या	...	10
3	जीवात्मा और पंच कोष	...	15
4	स्नत की दृष्टि में वस्तु और सम्बन्ध का प्रभाव		18
5	दोष त्याग के लिए सन्त की प्रेरणा	...	22
6	निष्कामता में ही पूर्ण सिद्धि सुलभ है	...	27
7	अहंकार अभिमान का दुष्परिणाम	...	32
8	रागद्वेष की निवृत्ति के लिए सन्त की युक्ति		37
9	ममता के ऊपर सन्त के विचार	...	40
10	दुखी का कर्तव्य	...	42
11	सन्तमत में शिक्षा और दीक्षा का अर्थ	...	50
12	सन्तमत में पुरूषार्थ की व्याख्या	...	52
13	कर्तव्यनिष्ठ बनो	...	54
14	ब्रह्मचर्य योग	...	56
15	संकल्प के प्रति सन्त के विचार	...	58
16	शरण का महत्व	...	61
17	स्मरण की महिमा	...	63
18	अन्तःकरण की शुद्धि	...	66
19	चाह के त्याग का महत्व	...	72
20	चिन्ता	...	79
21	समाज को धर्मात्मा पुरूष की आवश्यकता है		81
22	धर्मशील में क्षमा का सर्वोच्च स्थान	...	86
23	सन्तोष पर सन्तों के विचार	...	88
24	दया	...	90

25	सन्त की दृष्टि में उन्नति	...	91
26	ज्ञान की महिमा	...	92
27	स्थिर बुद्धि	...	97
28	सहस्त्रों ज्ञानियों का एक ही लक्ष्य	...	98
29	भगवान् और भक्ति	...	99
30	प्रेम की महत्ता	...	107
31	श्रद्धा और विश्वास के प्रति विद्वानों की धारणा		123
32	सन्त की दृष्टि में निराशा का महत्व	...	125
33	प्रकृति के तीन गुण	...	129
34	ध्यान से मोक्ष	...	132
35	परमार्थी साधक के लिए आवश्यक क्या है	...	137

मानव जीवन पर सन्त के विचार

जीवन वही है जिसकी अपनी कोई माँग नहीं, जो स्वयं सबकी मांग है।

शक्ति को लेकर इच्छा तथा प्रयत्न के रूप में जहाँ गति का दर्शन मिलता है वही जीवन है।

जीवन में दुर्गति, गति, सद्गति, परमगति के रूप में शक्ति का दुरूपयोग, सदुपयोग दिखाई देता है। विषयासक्त जीवन जहाँ स्वतंत्रता रहती ही नहीं,... पशु–जीवन है अथवा जहाँ भाव विवेकरहित क्रिया की ही प्रधानता है वही पशु–जीवन है।

जहाँ क्रिया के साथ भाव विचार की प्रधानता है वही मानव जीवन है, दूसरों की पूर्ति के लिए, दूसरों को सुख देने के लिए जहाँ निरंतर जाग्रति है वही मानव जीवन है।

कर्म के साथ विवेकयुक्त जीवन ही मान जीवन है।

जहाँ त्याग और प्रेम की पूर्णता है वहीं दैवी जीवन है, जो शरीर को संसार की सेवा में दे देता है, अपने आपको सत्य के समर्पित कर देता है उसी का ईश्वरमय जीवन है।

जो मानव समग्र शक्ति का सेवा में सदुपयोग करते हुए अपने लिये जगत से कुछ भी नहीं चाहता वही परमार्थी है।

''निकृष्ट मानव चहता इसी माँति, मेरा सो मेरा तेरा भी मेरा।
मध्यम मानव कहता इसी भाँति– मेरा सो मेरा तेरा सो तेरा।
उत्तम मानव कहता इसी भाँति–तेरा सो तेरा, मेरा भी तेरा।
ब्रह्मज्ञ मानव रहता इसी भाँति–झूठा झमेला न तेरा न मेरा।''

सेवा और तप की कमी में मानव जीवन दोष सहित होता है। राग, द्वेषयुक्त प्रवृत्ति रहने तक मानव जीवन अपूर्ण रहता है। त्याग और प्रेम के द्वारा मानव जीवन पूर्ण होता है, विषयों से अरूचि होने पर मानव जीवन विरक्त होता है, सत्य से परमात्मा से भिन्नता मिट जाने पर मानव जीवन में भक्ति सुलभ होती है। जब तक कोई सांसारिक चाह रहती है जीवन में पराधीनता रहती है, सब चाहों का त्याग करने पर जीवन में स्वाधीनता प्राप्त होती है। परिस्थिति, मानव जीवन की व्यापार भूमि है। परिस्थिति का सदुपयोग मानव कर सकता है। परिस्थितियों के बीच में ही मनुष्य लोभ, अभिमान, मोह, ममला का अध्यास करता है वहीं पर विवेक मानव उदारता, नम्रता, धीरता, गम्भीरता को अपनाकर मानवता को उज्जवल बनाता है।

दिव्य चिन्मय जीवन सभी अवस्थाओं से परिस्थितियों से परे है वहाँ भय, चिन्ता का प्रवेश नहीं होता।

सुन्दर जीवन वही है जहाँ निर्लिप्तता हो (संग का प्रभाव न हो) निर्मलता हो, स्निग्धता हो (रूखेपन का अभाव), मधुरता हो, कोमलता हो।

हमारा जीवन इतना सुन्दर होना चाहिए जिसकी सभी को आवश्यकता हो, जिसे सभी चाहें।

हमें इतना सुन्दर होना चाहिए कि अमको किसी की आवश्यकता न हो। संग त्याग से हमारा जीवन सुन्दर हो सकता है। प्रभु के प्रति अभिन्नता से हम सुन्दर हो सकते हैं।

हमारी अपने अविनाशी जीवन से दूरी नहीं है और विनाशी जीवन से एकता नहीं है फिर भी जो दूरी तथा एकता प्रतीत होती है वह मान लेने से ही होती है, जान लेने पर दूरी नहीं रह जाती, एकता भी नहीं रह जाती।

दैवी गुणों का जहाँ अधिकार हो वही सुन्दर जीवन होता है। वस्तुओं के दासत्व से जीवन सत्य से विमुख होकर असत् के बन्धन में जकड़ जाता है।

जीवन को सुन्दर बनाने में मानव कहीं पराधीन नहीं है। शरीर को सुन्दर बनाने में अवश्य ही पराधीनता रहती है।

वर्तमान को सुन्दर बनाने से भविष्य सुन्दर बनाता है।

सेवा सदाचार तप की पूर्णता से वर्तमान सुन्दर हो जाता है।

त्याग और प्रेम की पूर्णता से जीवन में दिव्यता उतरती है।

बुराई के बदले में बुराई न करना मानवता है।

बुराई के बदले में भलाई करना साधु जीवन है।

जो दूसरों को खा जाने को दौड़ता है वह दानव है।

जो प्राण देकर दूसरों को रक्षा के लिए दौड़ता है वही मानव है।

निन्दा, घृणा, ईर्ष्या कलह, क्रोध त्यागने से मानवता प्रगट होती है।

किसी विद्वान् ने मानवता दानवता का अच्छा चित्र खींचा है:—

सत्यता पवित्रता चरित्रता विवेक क्षमा,
सभ्यता सुशीलता सुमति शान्ति समता
धीरता गम्भीरता उदारता गुरूत्व त्रपा,
मृदुता मनोज्ञता मधुरता सरसता
वीरता विनम्रता अदैन्य शम दम दया,
पर उपकारिता सरलता विमलता
इतने सुअङ मिलें जब मानव में मित्र,
उसमें समझ लो कि भरी है मानवता
भोग भोगता है सारे स्वर्ग के सदन बीच,
शासन सुलभ विश्व भर का विशाल है
नवनिधि और ऋद्धि सिद्धियाँ बीस हैं गेह,
उन्नत अतीव भूरि भाग्य भरा भाल है
सुन्दर शरीर मिला ऐसा आधि व्याधिहीन,
जिसका हुआ न कभी बाँका एक बाल
मानव विहीन यदि मानवता से है मित्र,
मानव नहीं है वह दानव कराल है

जिसे आहार निद्रा भोगजनित सुख ही अति प्रिय लगती है उसमें पशु–प्रकृति की प्रधानता समझनी चाहिए।

जहाँ आहार निद्रा भोग सुख के साथ धन तथा सम्मान अति प्रिय लगता है और इसी की प्राप्ति के लिए जो प्राणी दूसरों को कष्ट देता है, अपमान करता है, धन अपहरण करता है वहाँ दानवी प्रकृति की प्रधानता समझनी चाहिए।

जहाँ आहार, निद्रा तथा भोग सुख में मर्यादा का ज्ञान रहना है साथ ही रदूसरों को सुख–सम्पत्ति तथा मान के दान का ध्यान रहता है वहीं मानवी प्रकृति की प्रधानता देखनी चाहिए।

'इक बाहर इक भीतरे इक मृदु दुहु दिशि पूर।

सोहइ नर जग त्रिविध ज्यों बेर, बदाम, अँगूर।'

तीन प्रकार के मनुष्य–कोई बेर की भाँति, कोई बादाम की भाँति, कोई अंगूर की भाँति।

विधिवत् शासस्त्रोक्त ब्रह्मचारी के जीवन में गुणों का विकास एवं धर्म का विवेक होता है। सद्गृहस्थ के जीवन में सीमित उपभोग और धर्मपूर्वक अर्थ (धन) का उपार्जन होता है। वानप्रस्थ के जीवन में निष्काम सेवा और दोष निवृत्ति के लिए तपस्या होती है, सन्यासी के जीवन में समस्त कामनाओं, वासनाओं का त्याग होता है।

त्यागी होने पर ही प्रेम की पूर्णता होती है—यही सर्वोपरि सुन्दर जीवन है। जीवन में भोग का भले ही कोई स्थान हो पर भोग में जीवन नहीं है विनाश अवश्य ही है।

संसार में जो यह जीवन मिला है वह मृत्यु का अन्त करने और विनाशी जीवन के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए मिला है।

सबका जीवन चिन्मय (चैतन्यमय) है ज्ञानस्वरूप है परन्तु संगदोष के कारण चैतन्य जड़मय और जड़ चैतन्यमय प्रतीत होता है।

जीवन वर्तमान में ही है परन्तु भूल से निराशा होती है प्रमाद से विमुखता होती है। सीमित 'मैं' की ग्रन्थि छूट जाने पर अनन्त जीवन अर्थात् नित्य मुक्त जीवन का बोध होता है।

जीवन में जो अशान्ति अतृप्ति है वह पूर्णता के लिए प्रेरित करती है।

जीवन में जितना भी विनाश के अभाव का दुःख है वह शाश्वत सत्य की खोज करने और पाने के लिए प्रेरित कर रहा है।

जीवन में पुरूषार्थ की कमी नहीं है प्रत्युत सद्लक्ष्य के ज्ञान की कमी है, और सदाचार की कमी है।

सभी प्राणियों का जीवन एक ही है अतः सभी प्राणियों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि नाम रूप की भिन्नता होते हुए स्वरूप से एक ही है परन्तु यह सत्य तब तक समझ में नहीं आता जब तक मनुष्य की चेतना बुद्धिलोक में जाग्रत न हो।

अपनी कमी को अथवा भूल को एवं दोषों को जानना और उन्हें मिटाने का भरपूर प्रयत्न करना मानव जीवन में ही सुगम है।

अपने जीवन में दोषों का ज्ञान होना ही मानवता का आरम्भ है और दोष मिटा देना मानव जीवन के प्रयत्न की तथा साधन की सफलता है।

मानव जीवन केवल दुःख सुख के भोग के लिए नहीं मिला है, दुःख–सुख के सदुपयोग के लिए मिला है।

विवेक के द्वारा दुःखद–सुखद की परिस्थिति का सदुपयोग होता है।

भोग सुखों से विरक्त हो जाना, इच्छाओं का त्याग करना दुःख का सदुपयोग है। जो कुछ अपने को सुखद मिला हुआ है उससे सेवा करना, उदार बनना सुख का सदुपयोग है।

अविवेकी भोग सुखों का रागी बनकर मिले हुए का दुरूपयोग करता है और जो विवेकी है वह प्राप्त शक्ति सम्पत्ति योग्यता का सेवा के द्वारा सदुपयोग करता है।

दुरूपयोग करने वाले बारबार विनाश को देखते हैं।

सदुपयोग करने वाले विवेकी जन विकास को देखते हैं।

सभी दुर्बलताओं एवं दोषों की निवृत्ति मानव जीवन का पुरूषार्थ है।

जो सभी प्रकार के बल को सेवा में सदुपयोग करता है और शरीर इन्द्रियां तथा मन के ऊपर विवेकपूर्वक अधिकार रखता है, वही श्रेष्ठ मानव तीवन है।

जो अपने जीवन के द्वारा दूसरों की पूर्ति करते हुए अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए, सदा दूसरों को देते हुए सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहता है वही विवेकी मानव है।

जो संयोग में ही वियोग को देखता है जो जीवन में ही आगे आने वाली मृत्यु को देखता है, जो सुख में ही उसके अन्त दुःख को देखता है वही विवेकी मानव वियोग के तथा मृत्यु के दुःख से अपने को मुक्त कर सकता है।

विवेक के बल से ही विषमता में मानव सम शान्त रहकर अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करते हुए बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सन्त ने मुझे समझाया है–

सभी दोष विकार विवेक की कमी में ही जीवन के साथ सने रहते हैं।

विवेक का बल मानव जीवन के निर्माण के लिए परमावश्यक है।

विवेकी मानव अपने जीवन में कुछ पाने की लालता से प्रयत्न नहीं करता है वरन् जो कुछ मन के द्वारा संसार में पकड़ रखा है उसे छोड़ने को ही जीवन की सफलता जानता है।

विवेकी का सारा पुरूषार्थ तृष्णा के त्याग, वासन का नाश, सर्व हितकारी प्रवृत्ति, स्थिर बुद्धि एवं अडिक समता के लिए होता है।

त्याग, प्रेम एवं समतायुक्त जीवन पूर्ण योगी जीवन है।

योगी का जीवन ही सर्वोपरि सुन्दर जीवन है।

सुन्दर जीवन वही है जिसे सभी चाहते हों परन्तु जो किसी से कुछ न चाहता हो।

विवेकी किसी से कुछ न चाहते हुए अपने जीवन को इसलिए सुन्दर बना देता है कि वह परिश्रमी होता है, मन से संयमी होता है, चित्त से विरागी होता है, हृदय से अनुरागी होता है और अहं से अभिमानरहित होता है।

चाह का जन्म अर्थात इच्छाओं का जन्म अविवेक से और इच्छाओं का त्याग विवेक से होता है।

सन्ज संग से यह भी पता लगा है कि–

विवेक के आदर से, सामर्थ्य के दुरूपयोग से साधक को सिद्धि मिलती है।

वर्तमान अथवा भविष्य में सुख का अन्त दुःख में होते देखकर मानव विवेक का आदर और सामर्थ्य का सदुपयोग करता है।

विवेक का आदर तथा सामर्थ्य का सदुपयोग करने वाला मानव श्रमी, संयमी, सदाचारी और सेवा में सदा तत्पर रहता है।

जिसमें श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्याग हो उसी की समाज की आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अनन्त जीवन का अंशमात्र है। प्रत्येक अंश उस पूर्ण से अभिन्न हो सकता है।

स्वाधीनता, प्रसन्नता, कर्त्तव्यपरायणता, शान्ति, अमरत्व और प्रेम मानव जीवन में ही सुलभ है किन्तु–

आसक्तियों ने पराधीन बना दिया है।

क्षोभ ने शान्ति को अच्छाछित कर दिया है।

क्रोध ने प्रसन्नता को छिन्न–भिन्न कर दिया है।

विस्मृति ने कर्त्तव्यपरायणता से, अमरत्व से तथा प्रेम से विमुख कर दिया है।

कर्त्तव्यपरायणता से योग की सिद्धि होती है।

अहं और मम का अन्त होते ही आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं।

ममता से प्रियता और प्रियता से आसक्ति उत्पन्न होती है।

विनाशी देहादिक वस्तुओं में ममला तथा प्रियता न रखने से जीवन से प्रेम होगा।

जीवन वही है जो अपने में ही है, जिससे किसी प्रकार का वियोग नहीं होता। जो अपने में ही है वह अपने ज्ञान से प्राप्त होता है।

शक्ति के साथ प्राण और इच्छाओं का समूह, जीवन में क्रिया उत्पन्न करता है। जब प्राणाशक्ति व्यय हो जाती है और इच्छायें शेष रह जाती हैं। तभी मृत्यु की प्रतीति होती है। प्राणों के रहते इच्छाओं का अन्त कर देना मुक्ति है।

जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसका विनाश होता है, जिसमें अभाव होता है वह जीवन नहीं है।

कवि की चेतावनी है—

देख रहा विभु व्यापक आपके दूषण दोष सभी हथकण्डे।
अर्थ अनर्थ के हेतु नहीं बनते फिर व्यर्थ कुपन्थ के पण्डे।
है जग गेह स्वदेह विनश्वर आयेंगे काम शराब न अण्डे।
तत्त्व का ज्ञान करो मनुजत्व का अन्यथा हैं यमराज के डण्डे।

———————

शास्त्र तथा सन्तमत से

जीव ब्रह्म और परमात्मा की व्याख्या

चेतन तत्त्व ही सत्य है, नित्य है, ज्ञान है, अनन्त है, यही ब्रह्म है, अपरिणामी है, निष्क्रिय है, निर्विकार कूटस्थ है।

जड़ तत्त्व मूल प्रकृति भी नित्य है किन्तु वह परिणामी है, तीन गुणों वाली है, सक्रिय है।

जिस प्रकार आकाश में पानी पत्थर बरसते रहने से आकाश की कोई हानि नहीं होती उसी प्रकार आकाश के समान निर्लेप चेतन तत्त्व की त्रिगुणमयी सृष्टि से कोई क्षति नहीं होती।

अपने शुद्ध स्वरूप में चेतन तत्व का नाम परमात्मा है। वही निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म, परब्रह्म है। वही अखण्ड है, अनन्त है। परम पुरूष से प्रतिबिम्बित महत्तत्व ही रजोगुण, तमोगुण की अधिकता से विकृत होकर अहंकार रूप से व्यक्त भाव में बहिर्मुख हो रहा इसी से सब प्रकार की भिन्नता उत्पन्न होती है।

साधना के द्वारा जितनी ही अन्तर्मूखता बढ़ती जाती है उतना ही रज, तम का आवरण (पर्दा) हट कर सत्य का प्रकाश बढ़ता जाता है और उस प्रकाश में चेतन तत्त्व अधिक स्पष्ट तेजोमय होता जाता है। उसी में चित्त की सर्व वृत्तिनिरोध द्वारा अवस्थित होती है इसी को जीवत्मा परमात्मा का योग कहते हैं। जो 'अहं' अर्थात् 'मैं' संधात का अभिमान छोड़ कर चिन्मय हो जाता है। यही योगानुभूति है।

अध्ययन द्वारा मुझे यह जानकारी हुई है कि चेतन की व्याप्ति जो प्रकृतिमण्डल के अन्तर्गत है उसी से सब कुछ बनता है। जड़सत्ता के भीतर जो साकार दीखता है वही चेतन जड़सत्ता के बाहर निराकार है।

ग्रह सूर्य में, सूर्य ऋषि लोक में, ऋषि लोक ध्रुव लोक में, ध्रुव लोक प्रजापति लोक में, प्रजापति लोक इन्द्र लोक में, इन्द्र लोक ब्रह्म लोक में, ब्रह्म लोक विष्णु लोक में, विष्णु लोक रूद्र लोक में, रूद्र लोक महेश लोक में, महेश लोक ओम्कार में लय होते हैं सृष्टि की पूर्वावस्था में।

पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रिय में, इन्द्रिय तन्मात्राओं में, तन्मात्रा महाभूतों के आदि कारण में, आदि कारण महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर अन्धकार में और अन्धकार चेतन तत्त्व में लय रहता है।

परम अव्यक्त अवस्थान्तर्वर्ती चेतन को परमात्मा पुरूष कहते हैं। मैंने यह भी पढ़ा है कि–

अव्यक्तावस्था के अन्तर्वर्ती चेतन को महेश्वर परमेश्वर कहते हैं। सूक्ष्म व्यक्तावस्था के भीतर चेतन को ईश्वर आत्मा कहते हैं।

देह में रहने वाले व्यष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम जीव है, जो संख्या में अनन्त है अल्पज्ञ हैं।

अविद्योपाधि में प्रकाशित चैतन्य ही जीव है, विद्योपाधि में प्रकाशित चैतन्य ईश्वर है और उपाधि से रहित चिन्मात्र तत्त्व परमात्मा ब्रह्म है। समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व

ईश्वर कहा जाता है वह एक है सर्वज्ञ है उसी को सगुण ब्रह्म कहते हैं।

कुछ भी श्रम न करते हुए जहाँ से सब कुछ करने के लिये बल मिलता है वहाँ प्राणिमात्र का परमात्मा है।

जिसके विधान में सदा अधिक नित्य नूतन सामग्री दी जाती है और भोगी हुई पुरानी वस्तु ली जाती है वही परमेश्वर है।

जो सब कुछ देकर अपने को दाता रूप में प्रगट नहीं करता, जो अपने अनन्त दान का बदला भी नहीं चाहता वही परमेश्वर है।

जिसकी शरण जाने पर संयोग की दासता वियोग का भय मिट जाता है वही परमेश्वर है।

जो स्वयं हमसे पाप–पुण्य नहीं कराता किन्तु जिसकी सत्ता से हम सब प्राणी सब कुछ करते रहते हैं वही परमात्मा है। प्रायः जिससे हम विमुख होकर रह सकते हैं परन्तु कभी कहीं भी तत्त्वतः भिन्न नहीं हो सकते वही परमात्मा है।

जिसमें इच्छायें, कामनायें हैं वही जीव है और जिसके प्रकाश में, आश्रय में सब कुछ पूर्ति होती है वही परमात्मा है। जो सीमित का अभिमानी है वही जीव है, जिसमें असीम सौन्दर्य, अनन्त ऐश्वर्य, अपार माधुर्य भरा है वही परमेश्वर है।

परमात्मा को देखने, अनुभव करने के लिये उसी की कृपा दृष्टि चाहिये उसी का दिया हुआ बुद्धियोग चाहिये। इस आँख से तो हम वायु, आकाश को भी नहीं देख सकते तब उस परमात्मा को किस प्रकार देख सकते हो।

जो हमसे भी हमारे निकट है उसके पाने के लिये गति अपेक्षित नहीं, प्रत्युत अभिन्नता का बोध अपेक्षित है।

वह परमात्मा हमें सर्वदा प्राप्त है किन्तु हम इसीलिये उसे नहीं देख पाते क्योंकि अपने को अनेकों अभिमानों से, स्वार्थ तथा स्वीकृतियों से आबद्ध किये हुये हैं।

परमात्मा का एक जगद् व्याप्त मानवत्व भी शुभ रूप है उसके शुभ अंश से मान–हृदय बना है इसीलिये हृदय द्वारा से उसका दर्शन आरम्भ होता है।

परमात्मा का एक दूसरा रूप भी है जिसे विश्व रूप कहते हैं। इस विश्व रूप में शुभाशुभ दोनों को ही झाँकी मिलती है। उसके अशुभ अंश से शुाा को महिमा बढ़ती रहती है अतः वह अशुभ सदा ही शुभ के असीम सौन्दर्य–माधुर्य का पोषक है।

वेदों, शास्त्रों में परमेश्वर शिव के सौम्य, घोर, रूद्र–तीनों रूपों का वर्णन मिलता है।

परमात्मा का तीसरा स्वरूप भी है, जो शुभाशुभ के परे है। श्री गीता जी में हमें स्पष्ट संकेत मिलता है :–

'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते।

एकत्वेन पृथकत्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।।'

'ज्ञानयज्ञ के द्वारा जो मेरी उपासना करते हैं वे एकत्व से पृथकत्व से और बहुरूप से मेरा व्यापक रूप का भजन करते हैं।'

नित्य होते हुए जो नहीं मिलता उससे अज्ञान के कारण ही दूरी रहती है। जान लेने पर मानी हुई दूरी मिट जाती है।

जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश नहीं होता, जिसका विनाश नहीं होता उससे कभी दूरी नहीं होती इसीलिये उसे हम अपने में ही पा सकते हैं।

एक भक्त का कथन है :–

तू पस्ती में बाला में और रूबरू है।

बना तू हर एक फूल में रँग और बू है।।

जो आइना देखा तो तू रूबरू है।

निगह जिस तरफ उठ गई तू ही तू है।।

प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता में मुग्ध होता है, मधुरता में आकर्षित होता है और ऐश्वर्य के आगे नत होता है। जिसमें अनुपम सौन्दर्य हो, असीम माधुर्य हो और अजेय ऐश्वर्य हो वही भक्तों का भगवान है।

सर्वश्वर्य सुधर्म यश श्री विराग विज्ञान।

षट भग जामें होत हैं ताहि कहत भगवान।।

————

जीवात्मा और पञ्जकोश

एकान्त में अध्ययन मनन द्वारा ज्ञात हो सका अन्नमय कोष के आवरण में यह जीवात्मा अपने को सीमित विभक्त तापयुक्त जरा व्याधि जन्म मृत्युयुक्त मानने लगता है।

स्थूल शरीर स्थूल इन्द्रियों का आकार अन्नमय कोष है। पाँच कर्मेन्र्दियाँ शक्तिरूप पञ्चप्राणयुक्त प्राणमय कोष है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर मन (शक्तिरूप) मनोमय कोष है। बुद्धि अहंकार ही विज्ञानमय कोष है।

चित् (महत्तत्पव) कारण शरीर अज्ञान आनन्दमय कोष है।

ज्ञान प्रकाश शुद्ध आत्मज्योति आत्मा तत्त है। चित्त ही कारण शरीर है। कारण शरीर के सम्बन्ध से आत्मा की संज्ञा जीवात्मा होती है।

सम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा का स्थान आज्ञाचक्र कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है यहीं पर प्राण तथा मन स्थित होते हैं।

चैतन्य पुरूष और जड़चित्त में अभिन्नता की प्रतीति जिसे होती है वही अहंअस्मिता है।

मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार पञ्चतन्मात्रा——यही आठ प्रकृति है। ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं, गुण नहीं, आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है।

प्रतिबिम्बित चिति शक्ति की पुरूष है।

साधना के अभ्यास से तमोगुण की अर्थात् लय, निद्रा, आलस्य निरूत्साह की निवृत्ति होती है। वैराग्य से रजोगुण की अर्थात् चञचलता विक्षेप आदि कोष की निवृत्ति होती है।

आसन और प्रणायाम की सिद्धि से अथवा अपनत्व का भाव हटाने से अन्नमय कोष का बन्धन टूटता है।

प्रत्याहार तथा धारणा की सिद्धि से प्राणमय कोष पर विजय मिलती है। चित्त को एक विषय में एकाग्र करने से अर्थात् वितर्क भावना से मनोमय कोष में विजय मिलती है।

विचार द्वारा प्रत्येक परिस्थिति अथवा घटनाओं में शान्त रहने से विज्ञान कोष में विजय मिलती है। विचार रहित होने से, स्थिर–प्रज्ञा होने से, सत्य से पूरित प्रज्ञा होने से आनन्दमय कोष में विजय मिलती है।

गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा चित्ति शक्ति का अपने स्वरूप में लीन हो जाना कैबल्य है।

आनन्दमय कोष के बन्धन में प्रिय मोद प्रमोद एवं सुख की प्रतीति होती है। यह अज्ञान का आवरण कारण शरीर है।

विज्ञानमय कोष के भीतर अहं वृत्ति बुद्धियुक्त होकर अपने को कर्त्त विज्ञाता जाति अभिमान को धारण करता है, अभिमानी बनकर भोक्ता सुखी होता है।

मनोमय कोष से आच्छादित होकर यह जीवात्मा मन ज्ञान–इन्द्रियों के संग से संशययुक्त शोक मोहयुक्त दर्शन आदि का कर्ता मानता है। इसमें इच्छा शक्ति की प्रधानता है।

प्राणमय कोष के बन्धन में यह जीवात्मा अपने को वक्ता गतिशील, लेने देने वाला क्षुधा पिपासायुक्त विकारी मानता है। इस कोष में क्रियाशक्ति की प्रधानता है। यही तीनों सूक्ष्म शरीर हैं।

हमने पढ़ा है कि चौदह लोक हैं—भूलोक, सूर्यलोक, ऋषिलोक, ध्रुवलोक, प्रजापतिलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रूद्रलोक, महेशलोक, विराट चैतन्यलोक, हिरण्यगर्भ चैतन्यलोक, ईश्वर चैतन्यलोक, साक्षि चैतन्यलोक।

साधकों के लिये तो अति निकट दर्शनीय यह कायालोक है। ध्यान योग की सिद्धि से इस काया—लोक के भीतर ही अन्यान्य लोकों के केन्द्रों का दर्शन होता है। वृत्ति के अन्तर्मुख होने पर क्रमशः कायालोक के चमत्कार दीखते हैं।

जग में सत्संग बिना मानव सन्मति गति पाना क्या जाने।

आसुरी प्रकृति के जो प्राणी सतसंग में आना क्या जाने।।

उन्नति का साधन सेवा है इससे ही आत्म शुद्धि होती।

पर लोभी, अभिमानी, कामी सेवा को निभाना क्या जाने।।

गाँजा, अफीम या ीांग, चरस, सिगरेट, शराब पीने वाले।

व्यसनों को जा न छोड़ पाते मन वश में लाना क्या जाने।।

जिनके उर में होता रहता है आगे पीछे का चिन्तन।

वह प्रेम योग बिना परमेश्वर में ध्यान लगाना क्या जाने।।

जो पहुँचे हुए सन्त जन हैं, उनसे पूछो पथ की बातें।

जो बारह बाट बीच में हैं, वह लक्ष्य दिखाना क्या जाने।।

दुःख में जो त्यागी हो न सके, बन सके न सुख में जो उदार।

वह पथिक साधनामय जीवन को सफल बनाना क्या जाने।।

——

सन्त की दृष्टि में वस्तु और सम्बन्ध का प्रभाव

सन्त के संग से मुझे यह भी ज्ञात हो सका कि– जिसकी उत्पत्ति और विनाश हो उसे ही वस्तु कहते हैं।

वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही जिससे नित्य सम्बन्ध है उसकी विस्मृति और वस्तुओं की स्मृति उत्पन्न कर दी है। वस्तु वही है जिसे हम अपना मानें, जो हमें अपना न माने। वस्तु ने अभेद सम्बन्ध से सीमित अहं की और भेद–भाव के सम्बन्ध से ही सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गई है। वस्तु से सम्बन्ध तोड़ते ही सीमित अहं एवं सीमित प्यार व्यापक बन जाता है। हम अज्ञान में वस्तुओं को देखते हैं किन्तु वस्तुएं जिससे सत्ता पाती है उसे नहीं देखते जिस प्रकार सूर्य की सत्ता से उत्पन्न बादल सूर्य को ढक लेते हैं और उसी के प्रकाश से छिन्न–भिन्न भी हो जाते हैं उसी प्रकार परमात्मा की सत्ता से भिन्न–भिन्न वस्तुओं के प्रति सम्बन्ध स्थापित होता है, उसी की सत्ता से सम्बन्ध विच्छेद भी हो जाता है।

वस्तुओं के सम्बन्ध ने योग को भोग में, ज्ञान को अविवेक में और प्रेम को अनेक–अनेक आसक्तियों में बदल दिया है।

जिन वस्तुओं की हमने अपने में स्थापना कर ली है एवं जिन वस्तुओं में हमने अपनी स्थापना कर दी है उनको हटा देने में और उनसे अपने को हटा लेने में हम स्वतन्त्र हैं।

एक सन्त ने हमें समझाया कि वस्तुओं व्यक्तियों के द्वारा सुख का भोग तथा सुख की आशा चित्त को अशुद्ध करती है। वस्तु, व्यक्ति के सदुपयोग से चित्त शुद्ध होता है। वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ लेने पर कामनाएं नष्ट होती हैं, लोभ की निवृत्ति

होती है। किसी वस्तु को अपना न मानना असंग हो जाना विवेकी का पुरूषार्थ है।

अपने को देह मान लेने पर अनेक वस्तुओं व्यक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है।

किसी वस्तु के विनाश होने पर उसी को दुःख शोक होता है जो उस वस्तु के साथ 'मेरी' जोड़ लेता है।

सम्बन्ध त्याग देने पर दुःख–सुख का बन्धन टूट जाता है।

सम्बन्धी पाँच प्रकार के होते हैं :–

(1) न्यासानुबनधी सम्बन्धी वह है जो लोभवश धरोहर न लौटाने पर वह जीव धरोहर हजम करने वाले के यहाँ जन्म लेता और मरता रहता है जब तक वह अपना सब धन नहीं खर्च करा लेता।

(2) ऋणानुबन्धी सम्बन्धी वह है जो ऋण न देने वाले के यहाँ जन्म लेकर निष्ठुरता, निर्दयता, अश्रद्धापूर्वक अपना धन खर्च करता रहता है।

(3) वैरानुबन्धी सम्बन्धी वह है जो वैर चुकाने के लिए निकट सम्बन्धी बनकर कठोरता, क्रूरता का व्यवहार करता है जिसे कि विवश होकर सहना पड़ता है।

(4) उपकारानुबन्धी वह है जो पु रूप से सदा सुख देने के लिए जन्म लेता है और आजीवन माता–पिता की सेवा में ही तन, मन अर्पण कर देता है।

(5) उदासीन सम्बन्धी वह है जो न कुछ देता है, न लेता है सदा उदासीन रहता है। इसी प्रकार पत्नी, पति, नौकर,

घोड़ा, गाय, बैल, हाथी पशु बदला देने या लेने के लिए ही सम्बन्ध में आते–जाते रहते हैं।

वस्तुओं के रहते हुए उनको अपनी न मानने से लोभ, मोह, अभिमान नहीं रह जाता है।

भोग वस्तुओं से सम्बन्ध होना ही अन्तःकरण की अशुद्धि है। वस्तुओं के सम्बन्ध से ही जड़ता सुख की आशा तथा पराधीनता आती है। वस्तुओं में ममता करने से, उनका अभिमान करने से, उनमें रमण करने से, उनके आश्रय को स्थायी मानने से ही अन्तःकरण अशुद्ध हो गया है।

वस्तुओं के दासत्व ने ही सत्यानुभव से विमुख बना रखा है।

जिस वस्तु से ममता नहीं होती वह अनन्त के समर्पित हो जाती है और उसी की कृपा से वह शुद्ध हो जाती है।

जीवन को सुन्दर तथा पूर्ण बनाने के लिए वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता साधन समग्री है। इस साधन सामग्री का भोग–सुख में दुरूपयोग न करके सेवा में सदुपयोग करना चाहिए और लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।

वस्तु बाहर रहती है, सम्बन्ध मन से हो जाता है। वस्तु से भिन्नता रहते हुए सम्बन्ध में अभिन्नता प्रतीत होती है। वस्तु नष्ट हो जाती है सम्बन्ध फिर भी बना रहता है। वस्तुओं के चिन्तन से चित्त अशुद्ध होता है। सम्बन्ध के कारण ही लोभ भीतर बना रहता है, धन चला जाता है। अभिमान बना रहता है, अधिकार चला जाता है। मोह बना रहता है, सम्बन्धियों के

शरीर चले जाते हैं। सम्बन्ध जोड़ लेने पर ही जीव लोभी, मोही, अभिमानी बन जाता है।

किसी वस्तु को अपनी स्वीकार कर लेने से ही सम्बन्ध जुड़ जाता है। उसी को अपनी न मानने से, अस्वीकृति मात्र से सम्बन्ध टूट जाता है। जिससे सम्बन्ध तोड़ना हो उसे अपना न मानो और उसका सेवा में सदुपयोग करो। विनाशी से सम्बन्ध तोड़ो तभी अविनाशी से नित्य सम्बन्ध का बोध होगा।

वस्तु के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसी से सम्बन्ध तोड़ना सत्संग की तैयारी है। साक्षी होकर देखना हो सम्बन्ध तोड़ना है।

वस्तुओं का आश्रय लेने पर ही जीव पराधीन हो गया है।

वस्तुओं को अपनी मान लेने पर कहीं दीनता, कहीं अभिमान की वृद्धि होती है, जो मनुष्य वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपनी मानते हैं वे ही लोभी, मोही, अभिमानी होकर संसार में विनाश का दुःख भोगते हैं।

किसी कवि ने इसलिए सावधान किया है–

कर रहा है आसमां यह सब समां कुछ भी नहीं,

पीस दूँगा एक गर्दिश में जहाँ कुछ भी नहीं।।

जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस थे,

झाड़ उनकी कब्र पे है और निशां कुछ भी नहीं।।

जिनके धौंसे से जमीनो आसमां थे काँपते,

चुप पड़े हैं कब्र में अब हूँ न हाँ कुछ भी नहीं।।

तख्त वालों का पता देते हैं तख्ते गौर के,

दम व खुद हैं कब्र में बो अजां कुछ भी नहीं।।

X X X X

नारायण संसार में भूपति भले अनेक।

मैं, मेरी, करि मरि गए लै न गए तृण एक।।

जिसे देना है उसे दे देने पर, जो लेना है उसे छोड़ देने पर वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।

लेने की आशा से देने के अभिमान से रहित होने पर असंगता आती है। असंग होने पर मुक्ति मिलती है।

———

दोष त्याग के लिये सन्त की प्रेरणा

काम बिगाड़े भक्ति को ज्ञान बिगाड़े क्रोध।

लोभ विराग बिगाड़ दे मोह बिगाड़े बोध।।

सुखासक्ति से, असावधानी से अनेकों दोष बनते रहते हैं।

वर्तमान जीवन में जो कुछ मिला है उसका दुरूपयोग सभी दोषों का मूल है। जिन प्रवृत्तियों से किसी का अहित हो, अनादर हो, किसी की क्षति हो वही दोष है। जीव के जितने भी दुःख हैं वह उसी के बनाये हुए दोषों के कारण हैं। दोषी के बल से ही दोष बलवान होकर दोषी को दुःख देता रहता है ऐसा सन्त ने लिखा है।

ऐसा कोई दोष नहीं जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। सभी दोषों का कारण भिन्नता–भेद–भावना है, सभी सद्‌गुणों का कारण प्रीतिपूर्ण एकता है।

दया, क्षमा, करूणा, उदारता, धैर्य आदि गुणों की कमी में ही दोषों की पुष्टि होती रहती है और जहाँ प्रेम की कमी है वहीं गुणों की कमी है। दूसरों को अधिक दोषी देखने से भी दोष जीवित रहते हैं।

जिसमें गुण का अभिमान है उसी को अन्य के दोष दीखते हैं। अपने दोषों का ज्ञान जागृति उत्पन्न करता है परन्तु कभी–कभी अपने में गुणों का अभिमान प्रमाद उत्पन्न करता है।

दोष करने के प्रथम सभी निर्दोष हैं और दोष त्याग करने के पश्चात् पुनः उस दोष को न दुहराने तक भी सभी निर्दोष हैं। सन्तसंग में मैंने यह भी सुना है कि दोषयुक्त कर्म की पूर्ति

में बल की आवश्यकता है किन्तु दोष के त्याग में बल अपेक्षित नहीं है।

जो दूसरों की उदारता से अपने को आदर के योग्य मानते हैं उसमें दोष बने रहते हैं।

जड़ वस्तुओं का स्मरण, चिन्तन, ध्यान अपना बनाया दोष है। उसके मिटते ही भगवद्–चिन्तन स्वतः होने लगता है।

दोषों का चिन्तन न करके प्रार्थना तथा प्रायश्चित द्वारा निर्दोषिता स्थापित करना विचारवान् का पुरूषार्थ है।

शरीर से सुन्दर होते हुए भी मानव लोभ, क्रोध, मद, ईर्ष्या आदि दोषों के कारण भीतर से असुन्दर ही रहता है।

दोषों के कारण प्रार्थी नीचातिनीच गति को प्राप्त होता है।

दोषों के त्याग करने पर मानव उच्चातिउच्च पद में प्रतिष्ठित होता है।

दोष रहते चैन न लेने से दोष की निवृत्ति हो सकती है।

सभी अभिमान गलने से दोषों का नाश होता है।

दोषों का त्याग करके गुण का अभिमान नहीं आने देना चाहिए। सन्त की यह बहुत ही उत्तम सम्मति है कि जितेन्द्रियता, प्राणियों की सेवा, भगवद्–चिन्तन ज्यों–ज्यों बढ़ता जाता है त्यों–त्यों सभी दोष गुणों में बदलते जाते हैं।

जब मानव अपने बनाए दोषों का त्याग कर देता है तब उसका समस्त जीवन विवेक और प्रेम से पावन हो जाता है।

सभी दोष सहयोग से ही पुष्ट होते रहते हैं।

वस्तु के चिन्तन से लोभ, व्यक्ति के चिन्तन से मोह बढ़ता है।

लोभस से जड़ता, मोह से अविवेक पुष्ट होता है।

अध्ययन, ध्यान, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रियजय—इन सबके द्वारा तेज की वृद्धि होती है और दोषों का, पापों का नाश होता है।

जिस भलाई को हम जानते हैं वह यदि दूसरों के साथ नहीं करते और जिस बुराई को हम जानते हैं वही दूसरों के साथ करते हैं तब हम प्राप्त ज्ञान का अनादर करते हैं। प्राप्त ज्ञान के अनादर से अनेकों दोषों की वृद्धि होती है।

समस्त दोषों का मूल अपनी पूर्ति का प्रलोभन है।

वस्तुओं तथा व्यक्तियों में प्रीति सीमित होने पर अनेकों दोष बढ़ते हैं।

जहाँ तक लालच और भय बना रहता है वहाँ तक दोष बनते ही रहते हैं।

गुण का भोगी दोषी हो जाता है। जिसे अपना कोई गुण नहीं दीखता वह दोषरहित आस्तिक है।

समस्त गुणों के साथ शीतलता है और दोष वृत्तियों के साथ परिताप है।

दोषों से सनी हुई बुद्धि द्वारा कामनाओं के पोषण में प्रगति दीखती है, मोहयुक्त प्रवृत्ति में प्रेम प्रतीत होता है, लोभवश प्रयत्न उन्नति का साधन तथा मद से युक्त चेष्टा को आत्मसम्मान मान लिया जाता है।

गुणों का अभिमान दोषों की भूमि में ही उत्पन्न होता है।

गुणों के अभिमान त्यागने पर अहंभाव नष्ट होता है।

जो अपनी दृष्टि में दोषी है वही दूसरों से अपने को निर्दोष कहलाने की आशा करता है और चेष्टा करता है।

चित्त के अशुद्ध रहने के कारण दोषों के होने का दुःख प्रबल नहीं होता।

दोषों का असह्य दुःख उस समय तक नहीं बढ़ता जब तक दुःख के साथ किसी प्रकार का सुख है।

सुख का राग मिटते ही दोष की उत्पत्ति नहीं होती।

हंस सारग्राही गहत क्षीर तजत सब नीर।

मन्थन करि पय तक्र तजि, लह नवनीत अहीर।।

तजि पर अवगुण नीर को क्षीर गुणन सों प्रीति।

हंस सन्त की सर्वदा नारायण यह रीति।।

जो पूर्ण निर्दोष है उसे दोषों का भान नहीं होता है।

कदाचित् किसी व्यक्ति में दोष दिखाई दे तो दोषों की निन्दा भले ही करो परन्तु किसी को दोषी मान कर घृणा न करो। जिसमें दोष हों वह घृणा का पात्र नहीं है, वह कृपा का पात्र है।

जो किसी से घणा करता है वह उस अनन्त से घृणा करता है क्योंकि समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है।

जिस प्रकार अधिकार की लालसा से न करने योग्य कर्म होने लगते हैं उसी प्रकार परदोष दर्शन से घृणा का जन्म होता है।

उदारता ईश्वरीय गुण है, वह किसी से घृणा न करने पर ही सुरक्षित रह सकती है।

गुण का आश्रय पाकर दोष अपना अस्तित्व सुरक्षित रख पाता है।

जो किसी की बुराई नहीं चाहता, किसी को बुरा नहीं कहता, किसी से घृणा नहीं करता वह निर्दोष मानव सिद्ध होता है।

काम क्रोध अरू लोभ मद मिथ्या छल अभिमान।

इनसे मन को रोकिबों साँचो ब्रत पहिचान।।

काम क्रोध मद लोभ की जब लौं मन में खान।

तब लगि पण्डित मूरख तुलसी एक समान

मिथ्या ज्ञान के नाश से दोषों का नाश होता है, दोषों के नाश से राग–द्वेषयुक्त प्रवृत्ति का नाश होता है। प्रवृत्ति के नाश से जन्म दुःखों का अभाव होता है, फिर मोक्ष मिलता है।

दूसरे के दोष देखकर जो दोषी पर ग्लानि घृणा करता है, वह गुणों का अभिमानी होता है।

जो दूसरे के दोष देखकर दुखी होता है वह नेता है। जो दूसरों के दोष मिटाने का उपाय जानता है वह गुरू है। जो

उस उपाय के अनुसार दोषी को चलाने में समर्थ है वही शासक है।

सन्त तुलसीदास जी की मार्ग में जाते समय किसी स्त्री पुरूष को छिपकर व्यभिचार करते हुए दृष्टि पड़ गई। सन्त अन्धे का वेष बनाते हुए आगे निकल गये क्योंकि वे उन दोनों व्यक्तियों के सुख में बाधान नहीं डालना चाहते थे। उन दोनों ने निश्चिन्त होकर अपनी कामना पूर्ति में सुख माना। आगे बढ़ने पर भगवान् ने दर्शन दिया और बताया कि जिनकी आँखें शैतान पर नहीं रहतीं उसी को भगवान् दीखते हैं।

————

निष्कामता में ही पूर्ण सिद्धि सुलभ है

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। गीता ।।

इस अग्नि सदृश न पूर्ण होने वाले कामरूपेण ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढका हुआ है।

शुद्ध चेतन और बुद्धि–विवेक के मध्य में जो अहंभाव है उसी में काम का निवास है।

कामना उद्गम स्थान सीमित अहंभाव ही है।

नास्तिक जीवन में कामना पूर्ति का महत्व है, आस्तिक जीवन में कामना निवृत्ति का महत्व है।

कामना उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख साधक को निवृत्ति के जीवन में नहीं जाने देता है।

सुख, दुःख से परे आनन्दमय जीवन में उन्हीं का प्रवेश होता है जो सुखोपभोग की कामना का त्याग कर सकते हैं।

कामना के त्याग में कुछ भी श्रम नहीं है परन्तु आनन्द की अभिलाषा प्रबल नहीं है तभी कठिन प्रतीत होता है।

परमात्मा के प्रति प्रेम होने पर कामना का त्याग सुगम हो सकता है।

कामना की उत्पत्ति और पूर्ति परमात्मा से विमुख होने पर होती है और कामना की निवृत्ति उस अनन्त से अभिन्न करती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति से असक्ति बढ़ती है, कामना की निवृत्ति से अनुरक्ति बढ़ती है।

जो असक्त, कामी जगत् को भेगस्थल बनाता है वही नास्तिक है। जो परमात्मा में अनुरक्त, विश्व को उसका रूप मानकर सेवा करता है वही आस्तिक है।

संकल्प की पूर्ति के पश्चात् मानव उसी स्थिति में आता है जो संकल्प उत्पत्ति के पूर्व थी।

सुख के लिये वस्तु, व्यक्ति की चाह, काम है। प्राणों के रहते कामरहित हो जाना अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

कामनायुक्त प्राणी विषयों के दासत्व से नहीं छूट पाता। अहंकार में कामनाओं का जन्म होता है।

कामना की उत्पत्ति से दुःख, पूर्ति से सुख, निवृत्ति से शान्ति मिलती है।

कामना की उत्पत्ति अज्ञान से, कामना की पूर्ति कर्म से और निवृत्ति ज्ञान से होती है।

संससरा में छः वस्तु प्रधान हैं जिनकी संसारी व्यक्ति एवं साधकजन भी कामना करते हैं—ऐश्वर्य, धर्म, यश (कीर्ति—मान, बड़ाई आदि), श्री (धनतेज, सरूप, सौन्दर्य, सम्पन्नता), ज्ञान और वैराग्य। यदि कामना हो तो उपरोक्त छः बातों के लिये होनी परम शुभ है। इन कामनाओं की पूर्ति में उत्कृष्ट भोग और अन्त में मोक्ष सुलभ हो जाता है।

प्राणों के रहते कामरहित हो जाना अत्यावश्यक है। कामरहित होकर ही कोई दूसरों के या अपने प्रेमपात्र की सेवा कर सकता है। कामी को संसार नष्ट कर रहा है और निष्काम पुरूष संसार को विलीन कर रहा है।

सुख, दुःख का भोगी कामरहित नहीं हो सकता।

जो स्थिर है उसी से गति का, चन्चलता का, कामना का दर्शन मिलता है और उसी स्थिर तत्व में ही सब कुछ का अन्त होता है।

कामरहित होने पर सुख–दुःख के बन्धन का नाश हो जाता है। चाहरहित होने पर काम से छुटकारा मिलता है।

उत्पत्ति विनाशयुक्त वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता, प्रियता की हम कल्पना करते हैं–यही भ्रान्ति है।

कामनाओं का अन्त होते ही दृश्य का आश्रय छोड़कर दृष्टि स्थिर हो जाती है और निराधार में ही चित्त शान्ता हो जाता है।

धन की अधिकता विलास वृत्ति को प्रोत्साहन देती है, शक्ति की सिद्धि अभिमान एवं काम को उत्तेजित करती है अतः सन्तोष और संयम का आधार ही कल्याण–साधना की भूमिका है।

आध्यात्मिक शिक्षा और शक्ति की दीक्षा मानवीय चरित्र–निर्माण का साधन है। काम तथा अभिमान के रहते साधन का दुरूपयोग होता रहता है।

कल्याणप्रेमी परमार्थी के लिए वही उत्तम साधन है जिसने राग की, काम की निवृत्ति हो, नवीन दोष की उत्पत्ति न हो, नित्य योग एवं प्रेम की प्राप्ति हो।

कामनारूपी नमक की डली रखकर यदि कोई अमृत कि सागर में तैरे तब सब उसे नमकीन लगेगा, कामना के त्याग

बिना भजन मधुर न लगेगा। आसन–प्रणायाम, महामुद्रा, मूलबन्ध, महाबन्ध, योनि–मुद्रा से काम निग्रह होता है। यह सब साधना गुरू–सम्मति से ही करनी चाहिए।

एक सन्त का मत है कि काम का निग्रह दमन न करो और भोग भी न करो, वरन् काम का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो उसे देखो। दमन न करो उसे विदा कर दो। दमन करना दूसरों से छिपाना है। विसर्जन करना अपने को मुक्त बनाना है।

अज्ञान में दमन है। ज्ञान में मुक्ति है।

अनशन, तप, विचार, कार्य में अविराम संलग्नता, नियमित गहरी निद्रा कामशमन में सहायक है।

'बिन संतोष न काम नसाहीं।

काम अक्षत सुख सपनेहु नाहीं।।

राम भजन बिन मिटहिकि कामा।

थल विहीन तरू कबहुँ कि जामा।।'

देहाभिमान से ही काम की उत्पत्ति होती है।

देहाभिमान गलने पर काम का अन्त होता है।

दृढऋसंयम एवं विवेकपूर्ण स्वरूप–चिन्तन अथवा भगवद्–चिन्तन से देहाभिमान गलता है।

शुद्ध स्नेह ही मोह में परिणत होकर काम का रूप धारण कर लेता है।

कामना पूर्ति का सुखभोग ही नवीन कामना को जन्म देता है।

कामनायुक्त प्राणी भगवान् का भक्त नहीं हो सकता।

कामना अधूरी रहती है तो क्रोध आता है, और पूरी होती है तो लोभ–मोह बढ़ता है।

गृद्ध बहुत ऊँचे उड़ने पर भी मांस पर ही दृष्टि रखता है। इसी प्रकार कामी बहुत ऊँची ज्ञान–ध्यान की बातें करते हुए मन की वृत्ति तथा दृष्टि विषयोपभोग की वस्तुओं में रखता है। एक सन्त ने समझाया कि :–

जो वस्तु अपने पास न हो अथवा अपनी न हो उसे प्राप्त करने तथा भोगने की इच्छा को काम कहते हैं।

इन्द्रियाँ मन बुद्धिकाम के वास्थान हैं। नारी काम का बल है।

अनन्त सौन्दर्य–निधान प्रभु को न जानकर सीमित सौन्दर्य में रस लेना काम है। अथवा आत्मा के सौन्दर्य को देह में सीमित करते हुए देहरूप में मुग्ध होना काम है।

देहाभिमानी बनकर जो कुछ प्राणी करता है वह काम की प्रेरणा है। जो कुछ अपने आप प्राणी के प्रति हो रहा है वही राम की प्रेरणा है।

मनुष्य का लक्ष्य है काम का अन्त कर परमात्मा राम से अभिन्न होना। परमात्मा राम से मिलने की अभिलाषा प्रबल होने पर काम मिट सकता है। मैंने सन्त से सुना है कि :–

योग से काम दब जाता है। श्रम से शिथिल हो जाता है।

विचार से काम का बोध होता है। प्रेम से काम का नाश होता है।

बालकों की सेवा और भगवद्–विरह का दुःख जहाँ है वहीं काम का दमन हो पाता है– यह सन्त की सम्मति है।

वासना क्षय से या संसार का दुःख बढ़ जाने से या प्यार की प्रगाढ़ता से काम का नाश होता है।

कामना की उत्पत्तिए में अभाव है, उसकी पूर्ति में जड़ता है और निवृत्ति में वास्तविक आनन्दमय जीवन है।

सकामी जगत् में आसक्त होता है, निष्कामी परमात्मा का प्रेमी होता है।

निष्काम हुए बिना मानव निर्दोष नहीं हो पाता, निर्दोष हुए बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्येते।।

जिस समय पुरूष मन में रहने वाली कामना को छोड़ देता है उस समय आत्मा में ही आत्मा से सन्तुष्ट होकर स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

———

अहंकार अभिमान का दुष्परिणाम

बिरले ही जन सुनत हैं जो कुछ कहत सुजान।
तरने को आधीनता बूड़न को अभिमान।।

कोटि कर्म लागे रहे एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया जब आया अहंकार।।

अहंकार की अग्नि में दहत सकल संसार।
बिरले बचते सन्त जन केवल शान्ति अधार।।

संसृति मूल शूल प्रद नाना।
सकल शोक दायक अभिमाना।।

नीच नीच सब तरि गए सन्त चरन लवलीन।
जातिहि के अभिमान ते डूबे बहुत कुलीन।।

अमित्य असत्य से अभिन्नता, नित्य सत्य से भिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है।

दोषों का संग गुणों का अभिमान भक्ति मुक्ति में बाधक है।

अभिमान से युक्त बड़े से बड़ा गुण भी दोष बन जाता है।

देहाभिमानी शूद्र हैं, धनाभिमानी वैश्य हैं, बलाभिमानी क्षत्रिय हैं, विद्याभिमानी ब्राह्मण हैं, त्यााभिमानी सन्यासी हैं, सिद्धि का अभिमानी तपस्वी हैं। जिसे अपने में कोई भी विशेषता नहीं दीखती, जो अभिमान शून्य है वही भक्त है, मुक्त है,वही परमहंस है, वही यथार्थ ज्ञानी है। ज्ञान से अहंकार नष्ट होता है। जानकारी से अहंकार सम्बन्धित होता है। शास्त्र

अध्ययन से प्रायः जानकारी का अहंकार बढ़ता है यह केवल पाण्डित्यज्ञान है।

एक सन्त ने अभिमान के विषय में हमें समझाया है कि पद का अभिमान विचार को कुण्ठित कर देता है। विवेक के बल से अभिमान का त्याग सम्भव है। अभिमानी पुण्यवान् से पश्चात्ताप करने वाला पापी आगे निकल जाता है क्योंकि उसमें विनम्रता आ जाती है।

बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। अभिमान का त्याग करते ही बुराइयाँ अच्छाइयों में परिणत हो जाती हैं। अपने को श्रेष्ठ मानने से अपने से छोटा तथा अपने से भिन्न किसी को देखने से अभिमान उत्पन्न होता है।

हमारा अहं परमात्मा के दिव्य प्रवाह को रोकता है। अहं की कोई सत्ता नहीं, वह अपना ही बनाया हुआ है।

अभिमान की उत्पत्ति केवल अज्ञान से होती है।

विद्या मद अरू धनहु मद राज मद्द गुन मद्द।

इतने मद को रद करै तब पावै अनहद्द।।

आठ प्रकार का अभिमान होता है:— विद्या का, तप का, वैराग्य का, कुल का, रूप का, धन का, बल का, अधिकार का।

जो संसार के वैभव की सत्यता में विश्वास करते हैं वही अहंकारी अभिमानी होते हैं।

जिसे गुणों का अभिमान होता है वही परदोषदर्शी होता है और अपने दोषों को दबाता है।

मनुष्य को अभिमान ही दीन बनाता है।

जितना अहंकार प्रबल होगा उतने ही दु:ख बढ़ेंगे।

अहंकार का आधार है अनित्य पदार्थों से अपना एकत्व स्थापित करना। उन्हें अपना मान लेने से ही अभिमान प्रबल होता है।

जब तक अहंकार अभिमान रहेगा तब तक सत्य का बोध नहीं होगा। तब तक भक्ति नहीं होगी।

अहंकार समस्त बन्धनों की गाँठ है—वह गाँठ प्रभुसमर्पण से ही कटती है।

अभिमान भेद उत्पन्न करता है, भेद प्रीति को सीमित करता है। प्रीति के सीमित होने पर दोषों की वृद्धि होती है।

शरीर परिस्थिति अवस्था को सत्य मान लेने से अभिमान सुरक्षित रहता है। सन्त ने समझाया है कि—

अपने को भगवान् का समझलेने पर दीनता नहींरहती और इसके साथ ही जो कुछ दीखता है सब कुछ को, सबको भगवान् का समझ लेने पर अभिमान नहीं रहता।

मैं पन की गाँठ के छूटने से हमें अनन्त शक्ति प्राप्त हो सकती है। अपने को जो कुछ मान लिया है उसे जान लेने पर अहंरूपी अणु टूटता है।

कबिरा नवै सो आपको पर को नवै न कोय।

‘घालि तराजू तौलिये नवै सो भारी होय।।

‘अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थ विपर्ययम्।

विद्वाननिर्विद्य संसार चिन्तां तुर्ये स्थितस्त्येजेत्।।'

यह बन्धन अहंकार की ही रचना है यही परमात्मा के ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप को छिपा देता है इससे विरक्त होकर चिन्ता का त्यागकरो।

जब दूसरों के सुधार एवं दूसरों को सिखाने की बात मन में आती है तब समझना चाहिए कि सीमित गुणों का अभिमान जाग्रत् हो रहा है।

सीमित अहंभाव अनेक प्रकार की मान्यताओं का समूह है।

अहं के अनुरूप ही मम होता है। 'मैं' और मेरा अर्थात् अहं और मम का सम्बन्ध ही भोग है—जो कि अनेकों व्याधियों एवं शोक कष्ट का कारण है।

अहंकार का नाशक है 'नमस्कार नमो नमो' (नहीं है मेरा कुछ) एक सन्त ने बताया कि देखना चाहिये, विचार करना चाहिये—वस्तुरहित अहं का स्वरूप क्या है? और अहं रहित वस्तु का मूल्य क्या है?

यदि वस्तु में अहंबुद्धि न रहे तो जड़ता का अन्त हो जाता है और अहं में वस्तु—बुद्धि न रहे तो परिच्छिन्नता की उत्पत्ति नहीं होती है।

अहंभाव के मिटने पर अनन्त से अभिन्नता हो जाती है। वस्तुओं की अधिकता से अभिमान नहीं बढ़ता। उन्हें अपना मानने से तथा उनके उपभोग से अभिमान की वृद्धि होती है।

अहंकारी पुण्यवान् से विनम्र पापी आगे निकल जाता है।

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपः क्षयः।

अर्चितः पूजितो विप्रोऽदुग्धा गौरिव गच्छति।।

अपमान से तप की वृद्धि और सम्मान से तप का क्षय होता है। जिसका दूध निकाल लिया गया है उस गाय की तरह पूजा कराने वाला विप्र भी निस्सार होकर चला जाता है। भगवान् ने अपने भक्त को सावधान किया हैः–

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोश्यसि विनङ.क्ष्यसि।। 10 |48

मुझ परमात्मा में निरन्तर मन लगाकर मेरी कृपा से जन्म मृत्यु आदि सब संकटों से अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहींसुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जायगा।

सम्मान का, दूसरे की सज्जनता का भोग करने पर अहंकार बढ़ता है।

सेवा के द्वारा अभिमान मिटता है। गुणों का संग न हो दोष की उत्पत्ति न हो तभी अभिमान का अभाव कहा जाता है।

तनिक मान मन में नहीं सबसों राखत प्यार।

नारायण ता सन्त की बार–बार बलिहार।।

कोई वस्तु या व्यक्ति अपनी होकर नहीं रह सकती तब उसे अपनी मानकर अर्थात् किसी को अपना शिष्य मान कर

सेवकादि मान कर विवेकी गुरूजन अभिमानी नहीं बनते, वे या तो उसे अपना स्वरूप समझते हैं या उसमें भगवद् बुद्धि रखते हैं।

एक सन्त से मैंने सुना कि मिली हुई वस्तु तथा व्यक्ति के स्मरण से अहंता तृप्त और पुष्ट होती है। अहंकार से दरिद्रता का, निरहंकारिता से समृद्धि का परिचय मिलता है।

विचारशील तत्त्वतेत्ता न व्यक्तित्वकी दासता में बँधते हैं, न किसी व्यक्ति को बाँधते हैं।

देहाभिमानी ही पूजने में और पुजवाने में रस लेते हैं।

देहाभिमानी को न तो परमेश्वर मिलता है न मोक्ष मिलता है।

हेह को अपने ठहरने का होटल समझना चाहिए।

यदा नाहं तथा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।

तदा बन्धो यदा चित्तं किंचद्वांछति शोचति।।

जब तक अहंकार है तभी तक बन्धन है जहाँ अहंकार नहीं रहता वहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अहंकारी से दीन हीन इसजगत में दूसरा कोई नहीं है। अहंकारी ऐसा भिखारी है जो चोरी करके महाराजा के वस्त्र धारण कर दूसरों के सामने गवोन्मत्त होता रहता है।

गृहस्थ ही नहीं वे त्यागी भी अहंकारी हैं जो त्याग की स्मृति में अकड़ते रहते हैं। जब तक अहंकार है तब तक सत्य का बोध नहीं होता।

अहंकार से शून्य होते ही पूर्ण भर जाता है। सन्त से मैंने सुना कि अहं रूपी बिन्दु के भीतर झांको सत्य रूपी समुद्र मिल जायगा।

जो अहं से युक्त हैं वही भगवान से खाली हैं। ज्ञान बहुत कठिन है पर ज्ञन का अहंकार बहुत सरल है। सीमित अहंकार को जान लेने पर असीम सत्य का बोध होता है।

———–––

रागद्वेष की निवृत्ति के लिए सन्त की युक्ति

रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन।

आत्मवश्येर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। गीता 2–64

रागद्वेष से रहित स्ववश इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है।

सोई ज्ञानी सोइ गुनी सोई दाता ध्यानि।

तुलसी जाके चित भई रागद्वेष की हानि।।

शरीर तथा संसार से सम्बन्ध मान लेने पर अधिकार की जाग्रति होती है। अधिकार की पूर्ति में राग, अपूर्ति में द्वेष होता है। सन्त के प्रवचन में मैंने सुना है कि–

दूसरे की भलाई–बुराई मन में ठहर जाने पर रागद्वेष होता है।

रागद्वेष से ही समस्त बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं।

जहाँ कहीं राग होगा उसके पीछे द्वेष अवश्य होगा।

अहं के सीमित हो जाने पर रागद्वेष होता है।

दोष होते हुए जो त्यागा न जा सके वही राग है।

गुण होते हुए जो अपनाया न जा सके वही द्वेष है। राग तीव्र कर्मबन्धन का कारण है।

अपने को देह मानना ज्ञान की कमी है, ज्ञान की कमी अविचार से रहती है, अविचार से सुख की प्रतीति होती है,

सुख की प्रतीति से ही राग का जन्म होता है दुःख से द्वेष का जन्म होता है।

अनुकूल मानने से भी राग और प्रतिकूल मानने से द्वेष होता है रागद्वेष से उत्पन्न सम्बन्ध बंधन का कारण होता है।

अपने बनाये हुए सम्बन्धों को विचारपूर्वक त्याग करने से रागद्वेष की निवृत्ति होती है।

विश्वासपूर्वक परम प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्थापित करने से भी रागद्वेष दूर होता है।

भोग और मान का रागी सत्य के द्वार तक भी नहीं पहुँच पाता। यह भी बताया गया है कि–

जो कुछ त्याग करना है वह राग के ही कारण नहीं हो पाता। रागद्वेष के रहते स्वतन्त्रता नहीं मिलती।

मान और भोग की वासना त्याग कर कर्तव्यनिष्ठ होने से राग दूर होता है।

कर्तव्यनिष्ठ होने में अधिकार की लालसा बाधक होती है।

लालसा की पूर्ति में राग होता है अपूर्ति में क्रोध आता है।

रागरहित होकर नर्स की भाँति शरीर से सेवा करते हुए कर्मयोग की सिद्धि हो सकती है।

रागरहित होकर सती की भाँति हृदय से प्रेम करते हुए भक्तियोग की सिद्धि हो सकती है।

रागरहित होकर यात्री की भाँति सबके बीच में असंग रहकर यात्रा करते हुए ज्ञानयोग की सिद्धि हो सकती है।

सीमित अहं में जब तक राग है तभी तक कुछ न कुछ करते रहने की रूचि होती है, जब तक कुछ करते रहने की रूचि रहती है तब तक कुछ न कुछ पाने का लालच अवश्य रहता है।

रागरहित होने पर किसी संयोग की दासता तथा वियोग अर्थात् सम्बन्ध–विच्छेद का भय नहीं रहता।

राग से ही भोग में प्रवृत्ति होती है।

मिले हुए के सदुपयोग से राग मिटता है।

राग का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुण का अभिमान न हो।

जब अहंकार का ममता का त्याग होता है तभी चाह नहीं रहती, राग नहीं रहता। रागरहित होने पर ही आध्यात्मिक प्रगति होती है।

ममतासहित प्यार ही राग है अनासक्त होना ही वैराग्य है।

रागद्वेष से अहं की पुष्टि होती है, अहंकार से ही भेदभाव बढ़ता है; भेदभाव की वृद्धि से संघर्ष चलता है।

प्रियतम प्रभु के नाते सबको अपना मान कर सबके अधिकार की पूर्ति करते रहने से रागद्वेष मिटता है।

सम्बन्ध को तोड़ देने से अथवा स्वीकार किये हुए को अस्वीकार कर देने से रागद्वेष मिटता है।

जिसके द्वारा सुख की प्रतीति होती है उसी में राग होता है जिससे दुःख होता है उसी से द्वेष होता है।

कामनापूर्ति के प्रलोभन से तथा अपूर्ति के भय से रागद्वेष उत्पन्न होता है।

राग से ही भोग–वासनाओं का बन्धन दृढ़ होता है।

द्वेष से ही भेदभावना और क्रोध आता है। क्रोध सफलता का शत्रु है।

क्रोध से स्वरूप की और कर्तव्य की विस्मृति होती है।

विवेकपूर्वक असंगता से रागद्वेष का अन्त होता है।

स्नेह की व्यापकता से भी रागद्वेष मिट जाता है।

सर्वात्म भावना रागद्वेष को मिटा देती है।

कर्तव्यपरायण व्यक्ति रागद्वेष से रहित हो जाता है।

जंजीन का बँध दूसरों के द्वारा छूट जाता है पर राग का बँधा अपने ही द्वारा छूटता है।

यदि कोई राग का त्याग न करेगा तो जिससे राग है वह छूटेगा ही इसीलिये वस्तु व्यक्ति छूटने के प्रथम ही राग का त्याग कर देना विवेकी का कर्तव्य है।

राग, द्वेष, मोह– इन तीन दोषों से कर्म में प्रवृत्ति होती है।

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।

राग न रोष न दोष सुख दास भये भव पार।।

―――――

ममता के ऊपर सन्त के विचार

'ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते।'

ममता में ही प्राणी बंधे हैं; ममतारहित होते ही मुक्ति मिलती है।

'श्लोकार्धेन तु वक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

ममेति परमं दुःख निर्ममेति परमसुखं ।।

कोटि ग्रन्थ में एक महापुरूष ने यही सार बात पकड़ ली कि ममता ही परम दुःख का कारण है। ममतारहित होने से ही परम सुख सुलभ होता है।

शरीर तथा किसी वस्तु की ममता से आसक्ति उत्पन्न होती है।

किसी भी वस्तु व्यक्ति में ममता करके कोई वासनारहित नहीं हो सकता।

मिले हुए को अपना मान लेने से ममता हो जाती है। किसी वस्तु को अपना मानना ही अपने को दीन बनाना है और समाज में दरिद्रता बढ़ाना है।

जो कुछ अपने को प्रिय लगता है और उस पर अपना अधिकार हो जाता है उसी से ममता हो जाती है।

मुझे यह भी समझाया गया है कि–

जिससे ममता की जाती है वह वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती। अपना अधिकार भी नहीं रहता।

वस्तु की ममता लोभी व्यक्ति की ममता मोही बनाती है। ममता से ही आशा का जन्म होता है।

व्यक्तियों की ममता वियोग के भय से, वस्तुओं की ममता हानि के भय से मुक्त नहीं होने देती।

जिस प्रकार भिन्नता मिटने पर प्रेम पूर्ण होता है, उसी प्रकार ममता मिटने पर सभी प्रकार से त्याग पूर्ण हो जाता है।

ममतारहित होने के लिये अपनापन मिटाना आवश्यक है।

सबको अपना मान लेने से रागद्वेष मिट जाता है। सबके स्वामी एक परमेश्वर को अपना मान लेने से त्याग प्रेमपूर्ण हो जाता है या फिर किसी को अपना न मानने से बन्ध से मुक्ति मिल जाती है।

परमेश्वर सर्वोपरि सुन्दर है, वह सबका है, सब में है, सर्वदा है। फिर भी उसे सांसारिक वस्तु व्यक्ति में ममता होने के कारण ही प्राणी नहीं देख पाते।

ममता के नाश होने पर स्वाधीनता प्राप्त होती है।

जिससे ममतारहित होना है उसकी सेवा अवश्य ही कर देना है। प्राप्त में ममता न रखना, उसका सदुपयोग करना साधन है। ममता मिटने से प्रेम का उदय होता है।

ममता के त्याग से ही कोई स्वामी का सच्चा सेवक हो पाता है।

दुःखी का कर्त्तव्य

सुख के माथे सिल पड़े नाम हृदय से जाय।

बलिहारी व दुःख की पल–पल नाम रटाय।।

संसार के समस्त कष्ट दुःख मनुष्य को सत्य की खोज के लिये विवश कर रहे हैं। विचार से उत्पन्न दुःख उन्नति का कारण होता है।

दुखी व्यक्ति यदि सुख से विरक्त हो जाय तो आया हुआ दुःख सब विकारों को मिटाकर स्वयं मिट जाता है।

जो दुखी होकर दुःख देने वाली कामना का त्याग नहीं करता उसे जीवन में बार–बार सुख का अन्त दुःख देखना पड़ता है।

जो दुःख से डरता है वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। दुःख संसार की सहायता से दब भले ही जाता है पर मिट नहीं सकता। दुखी होकर दुःखहारी हरि की शरण्ना ही परम बुद्धिमत्ता की बात है।

दुखी अर्जुन के हिस्से में भगवान् आये, सुखी दर्योधन के हिस्से में भोग सामग्री मिली।

विचारवान् आस्तिक सुखी होने पर भगवान् की दया देखता है और दुःख आने पर भगवान् की कृपा अनुभव करता है।

हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि सुख उदार होने के लिये मिला है और दुःख विरक्त त्यागी होने के लिये मिला है।

पूर्ण दुखी ही संसार से विरक्त हो पाता है।

सुख तथा सुख की आशा पूर्ण दुखी नहीं होने देती। विचार पूर्वक सुख का अन्त देखते हुए सुखी दशा में दुखी की सेवा करके दुःख को पूर्ण बनाया जा सकता है। दुःख की जाग्रति में आसक्तियाँ मिट जाती हैं।

अविवेकी प्राणी अपनी भूल से भ्रान्ति से दुखी होते हैं और दूसरों को दुःख देते हैं। इन्द्रियसुख के लालची भोगासक्त प्राणी दूसरों को दुःख देते रहते हैं। दूसरों से अपनी पूर्ति चाहने वाले दुःख नहीं मिटा पाते। जब तक सुख सरस प्रतीत होता है तब तक संयोग की दासता नहीं मिट सकती वियोग का भय नहीं हट सकता।

सुख का प्रलोभन संयमी नहीं होने देता। दुःख के सम्पुट (बीच) में सुख रहता है। दूरदर्शी सज्जन सुख देकर दुःख मोल लेना हितकर समझते हैं और दुःख देकर सुख लेने में अपना अहित देखते हैं।

सुख सदा रहता नहीं छिन जाता है। मानसिक दुःख साथ जाता है, सुख यहीं छूट जाता है।

सुख का अन्त दुःख में होता है। यदि दुखी पुनः उस सुख को न चाहे तो दुःख का अन्त नित्यानन्द में हो जाता है।

अपने को मानसिक दुःख से मुक्त करना हो तो अपने से अधिक सुखी की ओर न देखना चाहिये।

सुख तथा सुखियों से उदासीन होते ही दुःख की आग बुझने लगती है।

दुःख से न डरना चाहिये वरन् दोषों से डरना चाहिये।

दोष न हो तो दुःख हो ही नहीं सकता। पूर्ण दुःखी ही दोष युक्त प्रवृत्ति से मुक्त हो पाता है। संसार से निराश होने पर ही दुःख की पूर्णता आती है।

संसार से निराश होने पर पूर्ण दुखी के लिये ही योग सुलभ होता है। संसार की अनुकूलता प्रतिकूलता पर विश्वास भी दुःख का मूल है।

मनुष्य के अनेकों दुःख मन की मान्यता के ही कारण हैं। वासना से अनेकों पाप अपराध बनते हैं उन्हीं के कारण प्रतिकूलता का दुःख होता है।

जो कुछ विनाशी है उसे अपना मानकर लोभी मोही अभिमानी बने रहने तक दुःख नहीं मिटता।

दुःख सहते हुए तप का भाव रखने से शीघ्र कर्मभोग कट जाता है।

वासना काम क्रोध लोभ अहंकार ममता राग मोह मद मत्सर द्वेष वैर हिंसा यह सब दुःख की लपटें हैं।

संसार की ऐसी कोई अवस्था नहीं जिसमें कोई न कोई अभाव न हो किसी प्रकार का अभाव न रहने पर दुःखों का अन्त हो जाता है। जितना ही अधिक लोभ अथवा किसी से

मोह एवं अभिमान होता है उतना ही अधिक प्रतिकूलता में दु:ख होता है।

अज्ञानी वस्तुओं की कमी से दु:खी होते हैं मनुष्य के लिये ज्ञान की कमी, सद्‌गुणों की कमी, प्यार तथा प्रेम की कमी होते हुए दुखी न होना प्रमाद है।

भगवद्–विरह से व्याकुलता का दु:ख योग का साधन बन जाता है। संसार से निराश होने पर ही भगवान् के लिये व्याकुलता बढ़ती है विवेकी मानव निराश होता है।

भोग–सुखों का यथार्थ ज्ञान होने पर अथवा संसार की सहायता से दुखों का अन्त होते न देखकर निराशा होती है।

व्याकुलता के दु:ख से विरक्ति आती है, आसक्ति मिटती है।

व्याकुलता जाग्रत् होने पर फिर कहीं चैन न लेना चाहिये।

सच्ची व्याकुलता के दु:ख से विकार मिटते हैं। व्याकुलता का दु:ख अपनी पूर्ति का साधन बन जाता है।

दु:ख के बिना जीवन में पूर्णता नहीं आती।

दु:ख के डरने से दूना हो जाता है, न डरने से आधा रह जाता है। यथार्थदर्शी दुख से नहीं डरता।

मानव–जीवन में जन्म का दु:ख, इच्छा उत्पत्ति का दु:ख, अभाव का दु:ख, हानि का दु:ख, वियोग का दु:ख, मानहानि का दु:ख, रोक का दु:ख, बुढ़ापा का दु:ख, मृत्यु का दु:ख न्यूनाधिक रूप में सभी को होता है।

जितना अधिक अनुकूलता का राग है उतना ही प्रतिकूलता का दुःख होता है।

कदाचित् संसार की सारी सम्पत्ति समस्त भोग सामग्री जीव को मिल जाय फिर भी अविद्या और तृष्णा से संचालित जीव के दुःखों का अन्त नहीं होता।

जिसका चित्त रागानुरक्त है, द्वेष से दूषित है, मोह से मूढ़ है वही दुखी है। वह दूसरों को भी दुःख देता है।

दुःख का प्रभाव शुभ है क्योंकि उससे प्राप्त शक्ति का सद्व्यय होता है और अपनी भूल का तथा दोषों का ज्ञान होता है, किन्तु दुःख का भोगी होना अशुभ है क्योंकि उससे प्राप्त शक्ति का योग्यता का दुरूपयोग होता है। सुखी या दुखी होकर किसी अन्य को सुखदाता, दुखदाता नहीं मानना चाहिये।

जब हम दूसरों को सुखदाता मान लेते हैं तभी रागी, मोही बन जाते हैं और दूसरों को दुखदाता मानकर द्वेषी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, निन्दक हो जाते हैं। वास्तव में दुःख सुख अपने मन का ही माना हुआ होता है और अपने किये हुए कर्मों के फल से ही अनुकूल परिस्थिति में सुख और प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख की प्रतीति होती है।

जब तक हम दुःख का कारण अन्य किसी वस्तु व्यक्ति को समझते रहेंगे तब तक घृणा निन्दा परदोष दर्शन से बच नहीं सकते और पुनः दोषी हुए बिना रह नहीं सकते। मिले हुए का दुरूपयोग ही सभी दोषों का मूल है दोषों के न मिटने तक अगणित दुःख है।

दुःख का भोग करते हुए हम सुख की आशा करते हैं और सुख का भोग करते हुए सुख की दासता में आबद्ध हो जाते हैं।

मनोभय पुरूष सुख दुःख का भोग करता है, विज्ञानमय पुरूष भोग के परिणाम को देखता है। जो परिणामदर्शी है वही जाग्रत होता है। दुःख का प्रभाव वैराग्य प्रदान करता है।

जब जीवन में सुख की दासता नहीं रहती तब दुःख का भय नहीं रहता। कर्म से सुख दुःख नही मिलते वरन् परिस्थिति मिलती है। परिस्थिति के दुरूपयोग से दुःख, सदुपयोग से उन्नति का द्वार खुलता है।

दुःख से प्राणी का विकास और सखेपभोग से ह्रास होता है। समस्त दुखों का मूल शरीर से सम्बन्ध जोड़े रहना है। दुःखी होने वाला और दुःख देने वाला दोनों अपराधी हैं। जो सुख को रखने का प्रयत्न करता है, उससे सुख तो छिन ही जाता है दुःख साथ रहा जाता है।

दोषों का अन्त करने पर ही दुखों का अन्त होता है। किसी प्रकार की कमी शेष न रहे वही दुखों का अन्त है। दुःख सुख के अभाव में जो शेष रहे वही आनन्त है।

जिस दुःख की कृपा से दुःख हारी प्रभु मिलते हैं उससे डरना भूल है। दोषों से डरना चाहिये दुःख से नहीं।

दुःख होते हुए अनुभव न करना प्रमाद है।

स्वरूप में अपार आनन्द है जो कि दुःख की कृपा से मिलता है।

झूठे सुख को सुख कहैं मानत हैं मन मोद।

जगत चबेना काल का कछु मुख में कछु गोद।।

जिस त्याग तथा प्रेम से शान्ति एवं आनन्द सुलभ होता है वह दुखी मानव में विचार के द्वारा आता और सुखी मानव के द्वारा आता है।

संसार में वही पूर्ण धनी है, वही उदार है जो सुखी दशा में दूसरों की सेवा सहायता में तत्पर रहते हैं। जो भोगी हैं वे तो दीन हैं दरिद्र हैं।

वीतराग सन्त के संग से मुझे ज्ञात हुआ कि दुखी विचार कर सकता है सेवा नहीं और सुखी सेवा कर सकता है असक्तिवश विचार नहीं कर सकता।

जब जीवन में सुख की दासता नहीं रह जाती तब दुःख का भय नहीं रह जाता।

तुलसी साथि विपत्ति के विद्या विनय विवेक।

साहय सुकृत सत्य व्रत राम भरोसो एक ।।

भूख प्यास से प्राणों को शीत ताप शरीर को और मोह लोभादि दोष मन को कष्टदायी हैं।

हमें अनेकों प्रकार के दुःख शरीर से सम्बन्ध जोड़ने के कारण भोगने पड़ते हैं। हम स्वयं दुखी होकर और दूसरे को दुखी बनाकर अपने को अपराधी दोषी प्रमाणित कर देते हैं।

दुखी दशा में हमें दोषों का एवं इच्छाओं का त्याग करना चाहिए, यह गुरू—सम्मति है।

त्याग करने पर दुःख और सेवा करने पर सुख उन्नति का साधन बन जाता है।

दुखी होकर हमें संसार की ओर नहीं देखना चाहिये, संसार से आशा नहीं रखनी चाहिये प्रत्युत दुःखहारी भगवान् का आश्रय लेना चाहिये।

दोष का आश्रय पाकर दुःख द्विगुणित होता जाता है दोष के त्याग से दुःख का अन्त हो जाता है।

हमें यह भी ध्यान रखना है कि—जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता आनन्दमय प्रभु के यहां दुःख है ही नहीं तब जहां कहीं दुःख होता है वह अज्ञानवश अपनी ही भूल के कारण, भ्रान्ति के कारण, कमनाओं के कारण होता है।

कामना के उत्पन्न होते ही दोषों का आरम्भ होता है और कामना की पूर्ति न होने पर दुःखों का आरम्भ होता है।

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्माग्रहकर्मकालाः।

मनः परं कारण मामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्वत्।।

सुख दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता, न शरीर है, न ग्रह, न कर्म, और न काल ही है; मन ही परम कारण है। मन से ही संसारचक्र चल रहा है।

मन के द्वारा जीव अज्ञानवश मोहित होकर अगणित भूलें कर रहा है और अपनी ही भूल से मोहवश दुःख भोगता है।

भूल, अज्ञान, मोह ही दुःख के प्रधान कारण हैं।

भूल का अन्त एवं मिथ्या धारणा का अन्त उसके पीछे चलने से नहीं होता न उससे मुँह मोड़ने से ही होता है। यदि कोई उसे भूल जाने का प्रयत्न करे तब भी नहीं होता।

भूल छाया की भांति पीछे–पीछे चला करती है, यह मरीचिका (ग्रीष्म में धूप की लहरों) की भाँति आगे–आगे चलती है। यह भूल सब ओर से घेरे हुए है। भूल का अन्त सावधान रहने से होता हैः

भूल का अन्त जहां कहीं हो वहीं से उसका सामना करने से होता है।

यदि हम अज्ञान का अन्त करना चाहते हैं तो उसकी मानी हुई बातों को मानने से नहीं होगा, संशय में पड़े रहने से नहीं होगा, उसका अन्त मन्तव्यों को जानने से होगा, सत् असत् विवेक से होगा।

यदि हम मोह का अन्त करना चाहते हैं तो परम्परागत भावों में पड़े रहने से नहीं होगा न उसको तृष्ण तथा वासना को हृदय में बसाने से होगा, उसका अन्त मोहित बनाने वाली भावनाओं की निन्दा आलोचना तथा प्रायश्चित से होगा।

भूल, अज्ञान, मोह का अन्त करने के लिए अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह, अटल साहस आवश्यक है।

विवेकपूर्वक भूल को भ्रान्ति को अज्ञान को तथा मोहादि दोषों को जानते हुए इन सबका त्याग करना ही दुखी का कर्तव्य है।

दुःखों का मूल कारण अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश हैं। अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, अनात्मा में आत्मा मानना अविृद्या है।

चित्त और चेतन में भेद ज्ञान का न रहना अस्मिता है।

सुख की वासना से राग होता है।

राग से उत्पन्न हुए संस्कारों के विरोध में द्वेष होता है।

दुःख के भय से शरीर को बचाये रहने की वासना को अभिनिवेश कहते हैं।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग दुःख का मुख्य कारण है। इस दुःख का अन्तिम परिणाम संयोगजनित सुख से विरक्त बनाता है और स्वरूप में अवस्थित कराता है।

द्रष्टा और दृश्य के अविवेकपूर्ण संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के अीाव से संयोग का अभाव होता है।

सभी दोषों का अन्त तभी होगा, ममता मोह तभी दूर होगा जो शरीर के भीतर 'मैं' का ज्ञान होगा।

मैं मैं बड़ी बलाय है सको तो निकसो भागि।

कह कबीर कैसे बचे, रूई लपेटी आगि।।

———

सन्तमत में शिक्षा और दीक्षा का अर्थ

'प्रिय भाषण पुनि नम्रता आदर प्रीति विचार।

लज्जा क्षमा अयाचना ये भूषण उर धार ।।'

शिक्षा और दीक्षा से मानव जीवन में पूर्णता सिद्ध होती है। शिक्षा और दीक्षा से जीवन का सुन्दर निर्माण होता है।सुन्दर जीवन सभी को प्रिय होता है। सुन्दर जीवन वही है जिसमें त्याग, प्रेम, दान, ज्ञान की पूर्णता हो।

केवल शिक्षित व्यक्ति भलाइयों के साथ बुराइयों का भी प्रसारक होता है, सेवा करते हुए स्वार्थी भी होता है, विनम्र होने के साथ ही चाटुकार (चापलूस) भी होता है, विद्वान होने के साथ अभिमानी भी होता है, ऊपर से गुणों का प्रदर्शन करते हुए भीतर दोषों से युक्त भी रहता है, किन्तु जब शिक्षा के साथ दीक्षा का योग हो जाता है तब सब कुछ शुद्ध सुन्दर शुभ ही शेष रहता है अशुभ असुन्दर अपवित्र का त्याग हो जाता है। ....पूर्णता के अभिलाषी पुरूष का सारा जीवन शिक्षा प्राप्त करने के लिये है और दीक्षा उसी प्राप्त योग्यता शक्तिसामर्थ्य के सदुपयोग के लिये है। शिक्षा के लिये इन्द्रियसंयम और वीरता की आवश्यकता है। दीक्षा के लिये गम्भीरता धीरता मन के निरोध की आवश्यकता है। शिक्षा के साथ दीक्षा न हो तो जीवन के ध्येय का अथवा लक्ष्यका ज्ञान नहीं होता।

शिक्षित दीक्षित वही मानव है जो विद्या के द्वारा सर्वत्र विद्यमान सत्य का प्रेमी बने। क्योंकि अविद्वमान असत्य में रागी होना अविद्या का प्रभाव है।

शिक्षित उसी को समझना है जो अपना जीवन श्रम, संयम, सदाचार तथा सेवा के द्वारा सुन्दर बना रहा हो।

शिक्षित विद्वान् वही है जो अपने दोषों को देखता है और उनका त्याग करता है। शिक्षित विद्वान् वही है, जो अीाव में सन्तोषी हो, विपत्ति में धीरज रखता हो, सम्पत्ति को जो उदारतापूर्वक दान करता हो, सुखी दशा में जो सेवा करता हो, दुखी दशा में त्याग करता हो, जो कष्टों में सहिष्णुता रखता हो, प्रभुता के साथ विनम्र हो।

जो देहाभिमानी है, भोगी है वही शिक्षा दीक्षा से शून्य है। विवेकरहित शिक्षित में अभिमान, क्रोध, छल, लोभादि अनेकों दोषों की वृद्धि होती रहती है।

शिक्षा वही सुन्दरन है जिससे जीवन सुन्दर बन जाय। विद्या वही सार्थक है जो अविद्या का नाश करने में समर्थ हो।

मानव जीवन में शिक्षा के साथ उस दीक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा आत्मा के गुणों का विकास हो।

अच्छे शिक्षित वही हैं जो भलाइयों के सद्‌गुणों के प्रसारक हों।

किसी का यह कथन सत्य ही है कि वह मनुष्य अदूरदर्शी हैं, विवेकहीन हैं जो पश्चिमी शिक्षितों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। वह पश्चिमी शिक्षित बेचारे हम पूर्वीयजनों को क्या प्रकाश दिखायेंगे जहाँ इतना अँधेरा है कि वहाँ सूर्य की भी हुलिया

बिगड़ जाती है। ध्यान रखना है कि प्रकाश पूरब से उदय होता है और पश्चिम में अस्त होता है। पश्चिम से हमें उस प्रकाश की आशा नहीं रखनी चाहिये जिससे जीवन का तथा अपने लक्ष्य का दर्शन होता है।

जो मानव शिक्षा दीक्षा का मूल्यबढ़ा देता है उसे पशु पक्षी वृक्ष भी शिक्षा देते हुए प्रतीत होते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति का यही सर्वोपरि पुरूषार्थ है कि सदा एकरस न रहने वाले शरीर तथा संसार से शिक्षा लेता रहे। सुखी दशा में उदार बनने की, दुखी दशा में त्याग की शिक्षा लेकर दानी एवं विरक्त बने।

शिक्षा वही सुन्दर है जिससे दानवता का दमन हो, पशु–प्रकृति का नियम हो अर्थात् शक्ति का सेवा में उपयोग हो।

आध्यात्मिक शिक्षा दीक्षा के सहयोग से प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य, जीवन में सद्गति परमगति का साधन बन जाती है।

शिक्षा दीक्षा और साधना के सहयोग से मानव जीवन में आदर्श चरित्र का निर्माण होता है, दिव्यता का अवरण होता है।

अशुभ कर्मों को न करो शुभ कर्मों को हीन करो मन को वश में रखो, यही ज्ञानी गुरूजनों की शिक्षा है।

संसार में मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी न मानो, सब कुछ मिला हुआ जानो तथा जिससे मिला है उस दाता की परम दया कृपा का अनुभव करो–यह गुरूजनों की शिक्षा है। गुरू–विवेक का आदर करते हुए मोह लोभ अभिमान आदि

आसुरी दोष–वृत्तियों का त्याग करो, प्रारब्धानुसार मिली परिस्थिति का सदुपयोग करो। परमात्मा को शरण लेकर निर्भय निश्चिन्त रहो–यही भगवान् की शिक्षा दीक्षा है।

————

सन्तमत में पुरूषार्थ की व्याख्या

धर्म जो जानना, धर्मपूर्वक, अर्थ की प्राप्ति करना, धर्म सम्मत काम की पूर्ति करना और शक्ति के रहते जीवन को बन्धन से मुक्त बना लेना—यही धर्म, अर्थ, काम मोक्ष—चार मानव का पुरूषार्थ हैं।

जीवन में पूर्णता की प्राप्ति पुरूषार्थ है।

अमरत्वपूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द, पूर्ण स्वतन्त्रता, ईशत्व की प्राप्ति में ही पूर्णता होती है।

पूर्णता की प्राप्ति के लिए रागद्वेषादि सभी दोषों को निवृत्ति मानव जीवन का पुरूषार्थ है।

विचार विवेक द्वारा मैं पन की सीमा को तोड़ कर अहं को सर्वव्यापी परमात्मा में लीन कर देना साधक का पुष्षार्थ है।

आत्मा और परमात्मा के मध्य में भूल, भ्रान्ति, मिथ्यात्व, अविद्या, मोह तृष्णा, सागर की भाँति प्रतीति हो रही है। इन सबको पार कर जाना विवेकी का पुरूषार्थ है।

जो आत्मा पाप रहित है, बुढापा रहित है, मृत्यु रहित है, जो भूख प्यास शोक की वेदना से रहित है, जो सत्य—संकल्प है सत्यकाम है उसे जानना जिज्ञासु का पुरूषार्थ है।

कर्तव्यपरायण होना, अधिकार का त्याग करना, सुख को उदारतापूर्वक बाँटते रहना और दुखी दशा में सुखद वस्तु से व्यक्ति से विरक्त हो जाना बुद्धिमान् मानव का पुरूषार्थ है।

अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह, अटल साहस पुरूषार्थ को सफल बनाते हैं।

पुरूषार्थी वही सराहनीय है सुन्दर है जिसमें तृष्णा न रहे वासना न रहे, जिसकी प्रवृत्ति सर्वहितकारी हो और बुद्धि स्थिर हो। एक सन्त ने समझाया कि—

विवेक विरोधी कर्म विवेक विरोधी विश्वास, विवेक विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना परमार्थी का पुरूषार्थ है।

प्रायः जीवन का पुरूषार्थ भूल से भ्रान्ति से अज्ञान से ढका हुआ है किसी भी साधन से अध्ययन से भूल को भ्रान्ति को अज्ञान को दूर करना है। बल्कि इनको देख लेना है।

पुरूषार्थ सिद्धि के लिए सद्लक्ष्य पर निरन्तर दृष्टि रखना और सदाचार पवित्र व्यवहार परिस्थिति का सदुपयोग आवश्यक है।

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान, आत्मपुरूषार्थ—तीनों के योग से परम पद की प्राप्ति होती है।

सांसारिक भोगसुख की प्राप्ति के लिए प्रारब्ध राजा है पुरूषार्थ मन्त्री के स्थान में सहायक होता है। परमार्थ सिद्धि के लिये मुक्ति एवं भक्ति के लिये पुरूषार्थ राजा के स्थान में और प्रारब्ध मन्त्री के स्थान में कार्य करता है।

अपनी भूलों को अपने बनाये दोषों को जानना और उन्हें दूर करना मानव का दुर्लभ पुरूषार्थ है।

कर्तव्यनिष्ठ बनो

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।

अपने आप जो कुछ आज प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहने वाला और हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्या से रहित सिद्धि असिद्धि में समत्व भाव वाला पुरूष कर्मों को करके भी नहीं बँधता है।

कर्तव्यपरायणता के लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सन्त ने मुझे यही समझाया कि कर्तव्य का ज्ञान होने पर गुरूग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ अपने आप हो रहा है उसमें सन्तुश्ट प्रसन्न रहो।

जो कुछ करने जा रहे हो उससे सावधान रहो।

जो कुछ हितकर है साथ ही जो कुछ तुम कर सकते हो उसे ही करे। जो अहितकर है उसे न करो।

तुम्हें इतने कर्तव्यपरायण होना है कि दूसरे लोग तुम्हें देखकर स्वयं कर्तव्यपालन करने लगे।

जो कुछ दूसरों का तुम पर अधिकार है उसी की पूर्ति करना तुम्हारा कर्तव्य है अपने कर्तव्यपालन में तुम सदा स्वतन्त्र हो।

प्रायः मनुष्य अपने सम्बन्धियों के समाज के तथा भगवान् के भी कर्तव्य की चर्चा करते हैं परन्तु अपने कर्तव्य से विमुख रहते हैं।

रीझ आपनी बूझ पर खीझ विचार विहीन।

ते उपदेश न मानहीं मोह महोदधि मीन।।

पराये कर्तव्य की स्मृति में अपने कर्तव्य की विस्मृति है। कर्तव्य की विस्मृति में हो अकर्तव्य उत्पन्न हो जाता है।

संसार में जहाँ कहीं किसी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्ध है वहीं पर कर्तव्य निश्चित है। जिस मनुष्य में कुछ भी विवेक है उसे अवश्य ही कर्तव्य का ज्ञान होना ही चाहिये।

अपने जाने हुए दोषों के त्याग से मानव कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। परिस्थितियों के सहयोग से कर्तव्य पूर्ण होता है।

कर्तव्यपरायणता से रागद्वेष का अन्त हो जाता है।

कर्तव्य विज्ञान के सहयोग सेवा पूर्ण होती है।

कर्तव्य विज्ञान की पूर्णता योग में, योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में परिणत होती है।

जिसमें अनुकूलता का लालच है, प्रतिकूलता का भय है; जो व्यक्ति अधिकार चाहता है, जो सुखासक्त है, जो रागद्वेष अभिमान लोभादि दोषों का त्याग नहीं कर सकता वह कर्तव्यपरायण नहीं हो सकता।

अकर्तव्य के त्याग से ही कर्तव्यनिष्ठ होना सुगम है विवेकी मानव अकर्तव्य का त्याग कर पाता है। कर्तव्यनिष्ठ वही है जिसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

मनुष्य जो कुछ दूसरों के प्रति करता है वह उसी के प्रति हो जाता है।

जो पहिले कीजै जतन, सो पीछे फल पाय।

आग लगे खोदे कुवाँ कैसे आग बुझाय।।

कर्तव्यपरायणता समस्त साधनों की भूमि है।

कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे प्राप्त होता है जो रागद्वेष से रहित हो।

कर्तव्यनिष्ठ होने के लिये चित्त में स्थिरता तथा शान्ति का रहना आवश्यक है।

कर्तव्यपरायणता व्यक्ति निर्भय, निश्चिंत होता है क्योंकि फल भोग का लोलुप नहीं होता केवल अपने कर्तव्य को देखता है।

कर्तव्य का विस्मृति कर्तव्यपरायणता से वंचित कर देता है। कर्तव्य का पालन वर्तमान में ही होता है। उसका सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है।

उदार होकर सेवा करना अनुकूल परिस्थिति का सदुपयोग है। विरक्त होकर चाह का, अधिकार का त्याग करना प्रतिकूल परिस्थिति का सदुपयोग है।

जितना भी जो कुछ भी जैसा भी मिला है उसी का विवेकपूर्वक सदुपयोग करने से कर्तव्य का पालन हो जाता है। कर्तव्यपालन से निर्दोषता आती है और प्रेम प्राप्त होता है।

————————

ब्रह्मचर्य योग

अध्ययन के द्वारा मुझे यह ज्ञान हो सका है कि–नर का नारायण से जो मिला दे वही योग है।

शास्त्रों में 28 योगों का वर्णन है। 18 योग गीताशास्त्र में वर्णित हैं।

तप, स्वाध्याय, जप एवं अनुष्ठान क्रियायोग है।

क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूल रूप कर जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। वह ज्ञानाग्नि से ही दग्ध होता है।

ज्ञानयोग की पूर्णता के लिये श्रद्धा की, वीर्य की, स्मृति की, समाधि की, प्रज्ञा की पूर्णता अत्यावश्यक है।

श्रद्धा की पूर्णता यही है कि जहाँ तर्क संशय समाप्त हो चुके हों; बुद्धि शान्त हो एवं आज्ञपालन के लिये सदा तत्परता हो।

वीर्य की पूर्णता यही है कि अविचल साहस हो, पराक्रम में शिथिलता न हो और सतत उद्योग हो।

स्मृति की पूर्णता यही है जहाँ सद्लक्ष्य की कहीं विस्मृति न हो।

समाधि की पूर्णता यही है कि मन अचंचल हो बुद्धि स्थिर हो कूटस्थ चैतन्यस्वरूप में। कामना से मुक्ति मिलने पर समाधि पूर्ण होती है।

प्रज्ञा की पूर्णता यही है कि सर्वत्र असत् का प्रकाशक सत् तत्त्व अखण्ड रूप से अनुभव में हो, परिवर्तन में अपरिवर्तन तत्त्व का बोध अवधित हो।

सभी योग की सिद्धियाँ पूर्ण ब्रह्मचर्य पर ही अवलम्बित हैं।

ब्रह्म अथवा ब्रह्मपथ में जिसके द्वारा संचर हो वही ब्रह्मचर्य है।

मिथ्या संकल्प, इन्द्रिय चांचल्य, चित्त की विक्षेप वृत्ति निवृत्त होने पर, बिन्दु की साम्यावस्था ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा भूमि है।

बिन्दु क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण असम्भव है। प्रत्येक विषयरस के आस्वादन में अज्ञाततः बिन्दु अधोमुखी हो जाता है।

जो प्राणी शब्द में रूप में स्पर्श में आलिंगन में गन्ध में तथा रसना द्वारा रसास्वाद नहीं लेता वही सुरक्षित बिन्दु वाला ब्रह्मचारी है।

रूप रसादि विषय का भेद मिट जाने पर जब सर्वत्र ब्रह्म साक्षात्कार होता है तब व्यभिचार निवृत्त होता है। तभी साधक ब्रह्मचर्य व्रत में पारंगत होता है।

वीर्य की रक्षा, वेदाध्ययन, ईश्वरचिन्तन, तीनों मिलकर ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण बनाते हैं।

योग्यता के लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है। असत संग महान् विघ्न है।

———

संकल्प के प्रति सन्त के विचार

संकल्पों के त्याग से ही संकल्प उत्पत्ति से पूर्व के नित्य निर्विकार जीवन का अनुभव होता है।

वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का नाम संकल्प है और संकल्प के स्थूल रूप का नाम वस्तु है।

राग, द्वेष, प्रमाद और असावधानी से संकल्प उत्पन्न हो उठते हैं। अशुद्ध संकल्पों से न करने योग्य कर्म होते रहते हैं। अशुद्ध संकल्प मनुष्य को कर्तव्य से विमुख बनाते हैं। संकल्प की पूर्ति में सुख और अपूर्ति में दुःख होता है। संकल्प की निवृत्ति होने पर जड़ता, पराधीनता, असमर्थता समाप्त हो जाती है। संकल्प की पूर्ति जिन साधनों से होती है मनुष्य उनके आधीन हो जाता है।

अशुद्ध संकल्पों के त्याग में शुद्ध संकल्प की पूर्ति का सामर्थ्य छिपा हुआ है। संकल्प पूर्ति के सुख का त्याग करने पर निर्विकल्पता प्राप्त होती है।

अशुद्ध अनावश्क संकल्प के त्याग से चित्तशुद्धि की साधना आरम्भ होती है।

अनेक संकल्पों के त्याग करने पर जब कभी एक संकल्प उठता है तो अनायास ही पूर्ण हो जाता है।

आवश्यक संकल्प का पक्ष लेकर अनावश्यक संकल्प का त्याग करना चाहिये।

आवश्यक संकल्प वही है जिसे पूरा करने का सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो।

शुभ संकल्प की पूर्ति के लिये प्रतिकूलताओं से विवेकी जन नहीं डरते।

जब तक वस्तु व्यक्ति अवस्था परिस्थिति से अपनत्व का सम्बन्ध बना रहेगा तब तक संकल्पों की उत्पत्ति पूर्ति और निवृत्ति होती रहेगी।

संकल्प पूर्ति का प्रलोभन और अपूर्ति का भय रहते हुए न व्यर्थ चिन्तन का अन्त होगा न सार्थक चिन्तन होगा न चित्त निर्मल होगा।

संकल्प पूर्ति के प्रलोभन से ही संकल्प विकल्प का प्रवाह चलता रहता है।

जब तक वस्तु व्यक्ति से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता तब तक संकल्पों की उत्पत्ति का दुःख तथा पूर्ति का सुख संसार में रागी द्वेषी बनाये रहता है।

परमार्थी पुरूष को प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग संकल्प की पूर्ति में न करके निवृत्ति में करना चाहिये।

संकल्प रहित होने के लिये वस्तुओं से चित्त को विमुख कर लेना आवश्यक होता है।

संकल्प पूर्ति के सुख का महत्त्व न होने से चित्त वस्तुओं से विमुख हो जाता है। विवेकी मानव संकल्पातीत जीवन की अभिलाषा रखते हैं और उसे प्राप्त करके ही सन्तुष्ट होते हैं।

संकल्प पूर्ति का सुख कुछ क्षण के लिये यात्रा के विश्राम–स्थल के समान है उसे महत्व नहीं देना चाहिये।

संकल्प पूर्ति के सुख की दासता और अपूर्ति का भय मिट जाने पर अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति सुखद दुखद नहीं प्रतीत होती संकल्प की पूर्ति में सुख, अपूर्ति में दुख प्रतीत होता है।

वस्तुओं को सुन्दर सत्य सुखदायक मान लेने से संकल्प उठते हैं। दुर्बल संकल्प में असफलता का दर्शन होता है।

अपने से अधिक वस्तुओं का मूल्य स्वीकार करना ही संकल्प में आबद्ध होना है।

संकल्प की उत्पत्ति से भोग वस्तुओं से सम्बन्ध जुड़ता है। इसी से अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

संकल्प की उत्पत्ति किसी अप्राप्त की प्राप्ति के लिये प्रेरित किया करती है। अटल संकल्प में एक बलवान् शक्ति होती है।

वे संकल्प अशुद्ध हैं जो अप्राप्त वस्तु एवं अवस्था का चिन्तन कराते हैं। वे संकल्प शुद्ध हैं जो वस्तु तथा अवस्था से अतीत नित्य प्राप्त जीवन के अभिमुख (सन्मुख) कर देते।

विचारवान् पुरूष अपने संकल्पों का गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करते रहते हैं और आवश्यक शुभ संकल्पों को ही स्थान देते हैं, अनावश्यक अशुद्ध संकल्प का त्याग करते हैं।

अशुद्ध अनावश्यक संकल्पों के द्वारा शक्ति का ह्रास और अन्त में विनाश का दुःख देखना पड़ता है।

संकल्पों का अभाव ही मन का नाश है। संकल्पों का त्यागी ही सन्यासी है।

जहाँ संकल्प की उत्पत्ति ओर पूर्ति नहीं है वहाँ दीनता और अभिमान के लिये कोई स्थान नहीं है।

———

शरण का महत्व

सर्वधर्मन्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'सर्व धर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

जो जाकी शरणै तके ताको ताकी लाज।

जल मछरी सूधी चढ़ै ब्रह्ये जात गजराज।।

शरण वही लेता है जो अहंकार अभिमान से रहित होता है। वीतराग सन्त की समीपता से मुझे यह भी ज्ञात हो सका—जब तक निर्बलता का दुःख नहीं होता तब तक जीव सर्व समर्थ, स्वतन्त्र, मुक्त पतित—पावन, परमात्मा प्रभु की शरण नहीं लेता। सब प्रकार के बलों से निराश होने पर परमात्मा की शरण से सफलता मिलती है। शरण ही भक्त का महामन्त्र है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, साधक की सद्गति का साधन है।

निर्बल को बल के लिये, दुखी को आनन्द के लिये, परतन्त्र को स्वतन्त्रता के लिये, बद्ध को मुक्ति के लिये, पतित को पवित्रता के लिये, अभक्त को भक्त के लिये, अज्ञानी को ज्ञान के लिये सर्वसमर्थ स्वतन्त्र सत्य महान् की शरण लेनी चाहिये।

सन्त ने हमें सावधान कर दिया है कि—शरण उसी की लेनी चाहिए जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो, जिसका कभी विनाश न हो, जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो।

आस्तिक की, भक्त की, प्रेमी की, तथा साधक की एवं सेवक की और दुःखी की अन्तिम पुकार सब ओर से निराश होने के पश्चात् शरण के रूप मुें निकलती है और वह सफल बनाती है।

सर्व प्रकार से समर्थ प्रभु की शरण लेने से जो कुछ आवश्यक है वह बिना माँगे ही मिल जाता है और जो कुछ अनावश्यक है वह माँगने पर भी नहीं मिलता बल्कि उसके सम्बन्ध से बचाता जाता है।

शरणागत वही है जिसमें अपने प्रभु के ही अनुकूल संकल्प हो, जो कुछ प्रतिकूल हो उसी का त्याग हो, सर्वत्र अपनी रक्षा के लिए दृढ़ विश्वास हो, एकमात्र उन्हीं के प्रति अपनत्व भाव से स्वीकृति हो और सर्वस्व के साथ पूर्ण समर्पण हो।

दैन्य, दृढ़, विश्वास, आत्मसमर्पण—यह तीनों भाव शरणागत में होते ही हैं।

शरणागत में आस्था, श्रद्धा, विश्वास की कमी महान् बाधक है। आस्था, श्रद्धा, दृढ़ विश्वास के साथ निश्चिन्तता निर्भयता

एवं आत्मीयता स्वभाव बन जाती है जो कि शरणागत की सफलता में महान् साधक है।

दादू करता हम नहीं करता औरै कोय।

करता है सो करेगा तू जनि करता होय।।

स्मरण की महिमा

अनन्यचेताः सतत। यो मां स्मृतिनित्यशः

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्त योगिनः।।

हे अर्जुन, जो पुरूष मेरे में अनन्य चित्त से सदा ही निरन्तर मेरे को स्मरण करता है उस निरन्तर मेरे में युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ।

जप पत संयम साधना सब सुमिरन के माहिं।

कबिरा जाने रामजन सुमिरन सम कुछ नाहिं।।

राम नाम को सुमिर के उधरे पतित अनेक।

कह कबीर नहिं छोड़िये राम नाम की टेक।।

सुरति फँसी संसार में ताते परि गयो दूर।

सुरति बाँधि सुस्थिर करो आठो पहर हजूर।।

स्मरण वही है जिसमें कहीं विस्मरण नहीं हो।

परम प्रभु के स्मरण में जगत् का विस्मरण हो जाता है और जब जगत् का स्मरण रहता है तब परम प्रभु का विस्मरण हो जाता है।

जो मन में बस जाता है, अर्थात् जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसी का सतत स्मरण रहता है।

प्रायः मनुष्य अपना नाम, अपनी मानी हुई जाति तथा अपने सम्बन्धियों को जिस प्रकार कभी नहीं भूलता उसी प्रकार जब परमेश्वर के सम्बन्ध को न भूले तब इसी को स्मरण कहा जायगा। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों के प्रति स्वीकार किये हुए सम्बन्ध का निरन्तर स्मरण रहता है उसी प्रकार परमात्मा का स्मरण भी निरन्तर हो सकता है किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब परमात्मा से सम्बन्ध हो जाय, मन लग जाय।

सन्त कबीर स्मरण की सरल विधि बता गए हैं—

सुमिरन की सुध यूँ करो जैसे कामी काम।
एक पलक न बीसरे निशिदिन आठों याम।।

सुमिरन की सुध यूँ करो जैसे दाम कंगाल।
कह कबीर बिसरे नहीं पल पल लेत सम्हाल।।

सुमिरन सों मन लाइये जैसे नाद कुरंग।
कह कबीर बिसरे नहीं प्रान तजै तिहि संग।।

सुमिरन सों मन लाइये जैसे दीप पतंग।
प्रान तजै छिन एक में जरत न मोड़े अंग।।

सुमिरन सों मन लाइये जैसे कीट भिरंग।

कबीर बिसारे आपको होय जाय तिहि रंग।।

सुमिरन सों मन लाइये जैसे पानी मीन।

प्रान तजै पल बीछुड़े सत कबीर कह दीन।।

जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति हो जाती है उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। जिससे नित्य सम्बन्ध है उसकी विस्मृति है और अनित्य वस्तुओं की स्मृति है। अनित्य की स्मृति ही नित्य सत्य सम्बन्ध की विस्मृति का कारण है।

अखण्ड सम्बन्ध होने पर ही प्रेमपात्र का निरन्तर स्मरण सम्भव है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धि र्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।

इसलिये निरन्तर मेरा स्मरण कर और यु0 भी कर (कर्म भी कर)। मेरे में अर्पण किये हुए मन बुद्धि से युक्त हुआ निस्सन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा।

नाम जप अधिक से अधिक करने पर वही सहजस्मरण में परिणत हो जाता है। भगवद्स्मरण का क्रमशः साधक के जीवन में परिणाम दिखाई देता है।

जप एवं स्मरण की पूर्णता में आठ परिणाम दिखाई देते हैं। (1) पाप का बोध (2) दोषों का दुःखउ (3) दोषों का त्याग (4) कुसंग से अरूचि (5) सत्संग से प्रीति (6) मितभाषण (7) भव का उदय (8) प्रेम की प्राप्ति। प्रेम की प्राप्ति के पश्चात् भगवद्प्राप्ति नित्य सुलभ हो जाती है।

कबीर सुमिरन सार है और सकल जंजाल।
आदि अन्त मय सुमिरना बाकी है भ्रम जाल।।
सुमिरन सुरति लगाय कै मुख से कछू न बोल।
बाहिर के पट देय कर अन्तर के पट खोल।।
सुमिरन तो घट में करै घट ही में करतार।
घट ही भीतर पाइये सुरति शब्द भण्डार।।

———————

अन्तःकरण की शुद्धि

प्रभु के दर्शन के लिये दृष्टि का शुद्ध होना परमावश्यक है।

जो कुछ प्रारब्धवश मिला है उसके अनुसार जो कर्तव्यपरायण नहीं होता जो भी वस्तुओं से परे है उस अनत्य सत्य पर जो विश्वास नहीं करता, जो जाने हुए अर्थात् ज्ञान के अनुसार व्यवहार नहीं करता उसका चित्त अशुद्ध होता है वही पाप प्रवृत्ति में पतित होता है।

सदा के लिये अपने को या दूसरों को बुरा मान लेने से भी अन्तःकरण अपवित्र हो जाता है तभी पाप अपराध बनते हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि से ही समस्त साधन सफल होते हैं। एक सन्त के मत में चित्त को चंचल न कह कर गतिशील कहना चाहिए यह गतिशील चित्त सदैव शान्ति तथा नित्य रस की खोज में ीाटक रहा है। यह रसस्वरूप प्रेमास्पद को चाहता है। इसीलिये जो परिवर्तनशील वस्तु है उसमें नहीं स्थिर होता।

शाश्वत नित्य विद्यमान परम प्रेमास्पद के योग बिना चित्त को कहीं भी चैन नहीं मिलेगी, शान्ति नहीं मिलेगी।

अपमान के भय और सन्मान के लोभ से भी अनेकों पाप बनते रहते हैं।

इन्द्रियों से जो ग्रहण होता है उस पर विश्वास करने से ममता करने अन्तःकरण में अशुद्धि आती है। दृष्टा का दृश्य से सम्बन्धित होना ही अशुद्धि है।

अभिमान से आई हुई दीनता, हीनता, इसी प्रकार लोभ से बढ़ती हुई दरिद्रता, मोह से आई हुई जड़ता भी अन्तःकरण को अशुद्धि बनाती है।

गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से भी चित्त अशुद्ध होता है।

अन्तःकरण के अशुद्ध होने पर ही प्राणी प्रेम से विमुख होकर रागद्वेष आदि दोषों में बंध गया है।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना तश्चित्तप्रसादनम्।

सुखी प्राणियों में मैत्री सौहार्द, दुखी में करूणा, दया, पुण्यशील में मुदिता हर्ष और पुण्यहीन पापी में उपेक्षा उदासीनता से चित्त की शुद्धि होती है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में तल्लीन चित्त को ही प्रपंची कहते हैं। प्रपंची चित्त में सत्य तत्त्व का अर्थात् परमात्मा का ध्यान नहीं रहता तभी उसे प्रमत्त कहते हैं।

चित्त के चंचल तथा अशुद्ध होने के कारण आनन्द का अनुभव नहीं होता। प्रपंची चित्त में स्वरूप की विस्मृति रहती है।

संसार में जहाँ कहीं सुख की प्रतीति होती है वह केवल चित्त की एकाग्रता में ही है।

विनाशी वस्तु में अर्थात् देह गेह धनरादिक में चित्त एकाग्र होने से विनाशी सुख मिलता है। अविनाशी परमात्मा में चित्त एकाग्र करने अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।

जब तक चित्त जड़ का संयोगी है तब तक भोगी जीवन रहता है और जब चित्त चैतन्यमय हो जाता है तब वही योगी हो जाता है।

रागद्वेष से अशुद्धि बढ़ती है, त्याग प्रेम से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

चित्त की बहिर्मुखता में ही संसार है। विरक्त चित्त की अन्तर्मुखता में परमार्थ है।

चित्त और विषय के संयोग से बन्धन हो जाता है।

इच्छापूर्ति के सुख का लालच और अपूर्ति का भय अन्तःकरण को अशुद्ध बनाता रहता है।

संग्रह के लोभ से, पराधीनता से, सुख की आशा से तथा सुखोपभोग के लिए सतत् परिश्रम करते रहने से अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

वस्तुओं तथा व्यक्तियों को अपना मान लोभी मोही बनकर अपनी रूचि पूर्ति करते रहने से अशुद्धि बढ़ती है।

जो सामयिक कर्तव्यपालन में सावधान नहीं हैं उनके भीतर भी अशुद्धि बढ़ती है।,

आलस्य प्रमाद से भी अन्तःकरण में अशुद्धि आती है।

भोग सुखों की आसक्ति और दुःख के भय से अशुद्धि बढ़ती जाती है।

जब तक मनुष्य की दृष्टि दूसरे के कर्तव्य पर, दूसरे की उदारता पर लगी रहती है तब तक मन में अशुद्धि बनी रहती है। अशुद्ध मन स्वर्ग को भी नर्क बना देता है।

दूसरों के समान अपने प्रति न्याय से अपने समान दूसरों के प्रति प्यार करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

वस्तु व्यक्ति से सुखाशा एवं सम्बन्ध के त्याग से और पवित्र के दान से चित्त शुद्ध होता है।

किसी के दोष न देखने से किसी में बुराई की स्थापना न करने से मन शुद्ध होता है।

जब तक संसार में किसी वस्तु तथा व्यक्ति से लोभ मोह युक्त सम्बन्ध है तब तक चित्त अशुद्ध रहता है।

देहादिक वस्तुओं में अपनी और अपने में वस्तुओं की स्थापना करने से अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

अशुद्ध चित्त में ही प्रभु की विस्मृति होती है, अनित्य संसार से सम्बन्ध होता है।

निष्काम सेवा में शक्ति, योग्यता के सदुपयोग से और अप्राप्त की इच्छा के त्याग से चित्त शुद्ध होता है।

भेद तथा अभेद सम्बन्ध को अस्वीकार करने पर चित्त शुद्ध होता है।

चित्त के बहिर्मुख होने पर जो शक्ति वृत्ति बन जाती है वही चित्त के अन्तर्मुख होने पर वृत्ति ही शक्ति बन जाती है। संयम से शक्ति संचित होती है, संचित शक्ति से सेवा हो पाती

है सेवा से स्वार्थ वृत्ति हटती है तभी परमार्थ सिद्धि सुलभ होती है।

एक सन्त ने यह भी समझाया कि– दुसरों के अधिकार के अनुसार कर्तव्य पूरा कर देने से और अपने अधिकार को छोड़ देने से चित्त शुद्ध हो जाता है।

लोभ मोह अभिमान और काम से रहित हो जाने पर अन्तःकरण शुद्ध समझना चाहिये। अन्तःकरण की सभी वृत्तियों की शुद्धि होने पर विचार का उदय होता है फिर 'मैं' का ज्ञान होता है तत्पश्चात् स्वतः ही इच्छाओं का त्याग होता है त्याग की पूर्णता में ही शान्ति मिलती है। निष्काम पुण्य कर्म, उपासना चित्त शुद्धि के साधन हैं।

जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता तब तक स्ववश नहीं होता। यज्ञ दान तप स्वधर्म यम नियम चित्त शुद्धि के ही साधन हैं।

जो कर्तव्य कर्म में सावधान नहीं, जो प्रभु के विधान में प्रसन्न नहीं उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। जो नहीं करने योग्य है उन कार्यों का त्याग करने पर ही कोई वर्तमान कर्तव्य में सावधान रह सकता है।

ममता त्याग कर सेवा करने से और चाह रहित होकर प्रेम करने से हृदय शुद्ध होता है।

जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग सेवा में करते रहने से और जिससे मिला है। उससे ही पूर्ण अपनत्व स्थापित करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

मन को अपना न मानकर माने हुए सम्बन्धों को अस्वीकार कर असंग होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

इच्छाओं का त्याग कर अपने को निर्दोष बना लेने से किसी के दोष न देखने से, सभी प्राणियों के भीतर पूर्ण निर्दोष आत्मा एवं परमात्मा का अनुभव करने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

जब चित्त जड़वस्तु के संग सम्बन्ध से रहित होता है तभी शान्त तथा चिन्मय हो जाता है—यही चित्त की पूर्ण शुद्धावस्था है।

अन्तःकरण की शुद्धि के लिये किसी वस्तु व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है बल्कि वस्तु व्यक्ति आदि से सम्बन्ध विच्छेद की आवश्यकता है।

सर्व संग का त्याग ही शुद्धि का साधन है।

पवित्र के चिन्तन से अन्तःकरण पवित्र होता है।

जिसकी चाह प्रबल होती है उसी का चिन्तन होता है।

व्यर्थ चिन्तन से प्राप्त का दुरूपयोग होता है।

व्यर्थ चेष्टा से व्यर्थ चिन्तन होता है।

व्यर्थ चिन्तन निर्विकल्प स्थिति में अथवा ध्यानयोग में बाधक है।

निर्विकल्प मन में ही प्रियतम प्रभु का निवास होता है। अतः मन को निर्विकल्प बनाने के लिये व्यर्थ चिन्तन का त्याग करना होगा। सन्त ने हमें समझाया है कि सदा चिन्तन करो तो परमात्मा का ही करो जो तुमसे कभी दूर नहीं होता। 'मैं' रूपी बिन्दु के भीतर आनन्द सिन्धु को देखो। दमन से बलपूर्वक दबाया हुआ चित्त शुद्ध एवं शान्त नहीं होता, बल के प्रयोग से शिथिलता अवश्य आ जाती है। बल से दबाया गया चित्त कभी चंचल होगा ही अतः उसे दमन न करो उसे देखो।

अन्तःकरण को पवित्र बनाना है तो अपना शासन हटा दो माने हुए सम्बन्धों को समाप्त कर दो। जिस अनन्त के विधान से सब कुछ मिला है उसी के अर्पण की इरे फिर तो स्वयं सब कुछ पवित्र हो जायगा। एक सन्त ने बताया है कि–स्वयं अपने को निर्दोष बना लो चित्त भी निर्दोष हो जायगां चित्त में अंकित स्मृतियों को हटा देना, नवीन स्मृति को स्थान न देना चित्त शुद्धि का सुगम उपाय है।

जिसकी सेवा करो उससे ममता न होने दो, जिससे प्रेम करो उससे कुछ न चाहे तभी चित्त निर्मल होगा।

संयमी शुद्ध चित्त से जितना अपना या पराया हित होता है उतना किसी अन्य सम्बन्धी से नहीं होता।

इच्छाओं आशाओं से बँधा चित्त अशुद्ध रहता है।

सांसारिक जड़ वस्तुओं के साथ मिलकर मैं कहने से और जड़ वस्तुओं को अपनी मानकर मेरी कहने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

जब तक स्वरूप की विस्मृति है तब तक चित्त अशुद्ध है।

जब सच्चिदानन्दघन का ही चित्त में चिन्तन होगा तब चित्त शुद्ध होगा। जब चित्त में अन्य किसी के लिये स्थान न होगा तभी चित्त शुद्ध होगा।

सुखोपभोग की आशा से रहित ओर वस्तु व्यक्ति की आसक्ति से रहित होने में हो चित्त को शुद्धि हो जाती है।

क्रमबद्ध अभ्यास से, विराग होने से, अर्थ चिन्तन सहित जप करते रहने से, नियम विधि सहित प्राणायाम से, संयम से (धारण ध्यान समाधि को संयम कहते है) हृदय–कमल में या आज्ञाचक्र में अथवा सहस्त्रार में सुरति लगाने से, भीतर होते

रहने वाली ध्वनि में मन एकाग्र करने से, विरक्त ज्ञानी महापुरूष के अनुकूल चलने से गुरू के प्रति प्रगाढ़ सात्विक श्रद्धा होने से चित्त निरूद्ध होता है।

जो सदा एकरस नहीं रहता उससे विरक्त हो जाने से जो सदा एकरस रहता है। उस नित्य प्राप्त में अनुरक्त रहने से चित्त शान्त हो जाता है।

शुद्ध चैतन्य रूप का सदा चिन्तन करते रहने से चित्त चिन्मय हो जाता है।

————

चाह के त्याग का महत्व

तब लगि हमसे सब बड़े जब लगि है कुछ चाह।
चाह रहित सबसे बड़े पाय परम पद थाह।।
चाह चमारी चूहड़ी सब नीचन ते नीच।
मैं तो ब्रह्मस्वरूप था यदि चाह न होती बीच।।
चाह मिटी चिन्ता मिटी मनुवाँ बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये सोई शाहन शाह।।

किसी दुनियँा की ख्वाहिश ने है बन्दा कर दिया मुझको।
वगरना हम खुदा थे गर दिले बे आरजू होता।।

आत्मा परमात्मा से विमुख होते ही देह भाव की स्वीकृति होती है। सन्त ने मुझे समझाया है कि—

सभी प्रकार की चाह देह भाव धारण करने से उत्पन्न होती है, तथा शरीर के सम्बन्धियों को अपना मानने से चाह बढ़ती जाती है।

चाह से ही क्रिया का जन्म होता है।

चाहों का समूह ही सीमित अहं भाव है।

प्रत्येक मानव अहंकार वश सबसे अधिक महत्व चाहता है। महत्वाकांक्षा ही सबको संसार में भ्रमित बनाती है।

प्रत्येक मानव अहंकार वश सबसे अधिक महत्व चाहता है। महत्वाकांक्षा ही सबको संसार में भ्रमित बनाती है।

जब तक चाह है तब तक संसार में राजा रंक सभी को माँगते रहना पड़ता है।

चाह ही गरीब अमीर सभी को किसी न किसी के आगे झेकने के लिये विवश करती है, सभी को भिक्षुक बनाती है।

कोई रोटी कपड़ा चाहता है, तो कोई मकान दुकान चाहता है, कोई अधिकार सम्मान चाहता है जितनी अधिक अनुकूलता की चाह होती है उतना ही प्रतिकूलता का दुःख होता है।

संसार में जो किसी से कुछ भी नहीं चाहता है वही महान् है। जो पूर्ण परमात्मा सऐ अर्थात् सत् स्वरूप से विमुख हैं वही किसी न किसी चाह की पूर्ति में संलग्न रहते हैं।।

इच्छा सुख की सब करैं सुखी न पूरा कोय।

दुनिया दुखिया देखकर रोना आवे मोय।।

रोना आवै मोय हँसी भी फिर है आती।

जमा गड़ी धर माँहि कहाँबाहर मिल पाती।।

भोला मिथ्या विश्व सत्य ईश्वर यह शिक्षा।

सो है अपना आप करै फिर किसी इच्छा।।

कदाचित् कोई परमेश्वर को सर्वापरि मानकर, उन्हींका आश्रय लेते भी हैं तो कभी नरक के भय से परमेश्वर को पुकारते हैं या कभी स्वर्ग के लालचवश प्रभु की अराधना करते हैं।

वास्तव में परमप्रभु को चाहने वाले कोई बिरले ही प्रेमी हैं। किन्तु परमप्रभु से सांसारिक धन मान भोग चाहने वाले तो सहस्त्रों प्रेमी हैं।

जो मनुष्य आत्म–स्वरूप को जान कर स्वस्थ है, शान्त है वही इच्छा से रहित है।

एक बार भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से लगे कि संसार में तुम्हारे ही सब भक्त हैं, मेरे भक्त तो कहीं–कहीं मिलते हैं। लक्ष्मीजी को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये एक भक्त की परीक्षा लेने चले। भगवान् ने साधु रूप धारण किया। श्री लक्ष्मीजी सिद्ध वृद्धा बन गईं। भगवान् साधु के रूप में उस भक्त के गृह में पधाने। भक्त साधुसेवी तो था ही, बहुत ही प्रसन्नता के साथ साधु भगवान् को कृह में ठहराया। साधु पे प्रथम ही वचन ले लिया कि हम तभी सेवा स्वीकार करेंगे जब हमें भगवद्स्वरूप मानकर सेवा करोगे और तभी हम जायेंगे जब से प्रसन्न हो वरदान दे लेंगे। भक्त ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन सिद्ध वृद्धा के रूप में लक्ष्मीजी आईं। भक्त ने वृद्धा को भी अतिथि समझ कर भोजन दिया। वृद्धा ने सोने की थाली निकाल कर उसी में भोजन लिया और भोजन करके थाली फेक दी। भक्त ने सोने की थाली उठाकर रख ली और फेकने का कारण पूछा। वृद्धा ने कहा कि मैं नित्य जिस थाली में भोजन करती हूँ उसे फेक देती हूँ क्योंकि मुझे नित्य ही एक

स्वर्णथाली यक्षिणी से मिलती है। वृद्धा ने दूसरे दिन भोजन कर दूसरी थाली फेक दी और चलना चाहा परन्तु भक्त ने आग्रज किया कि आप कुछ दिन और ठहरें परन्तु वृद्ध ने कहा कि तुम्हारे यहाँ एक और साधु ठहरे हैं;जहाँ दूसरा अतिथि होता है वहाँ मैंनहीं रहती। भक्त ने ऐसा सुनते ही महात्मा से प्रार्थना की कि महाराज आपको यहाँ कष्ट होता है आप दूसरे स्थान पर चले जाइये। साधु महापुरूष ने कहा कि मैंने प्रमि ही कह दिया था कि हम अपनी इच्छा के अनुसार ही जायेंगे। भक्त ने अनेकों यत्न से साधु को हटाना चाहा पर जब साधु ने जाना स्वीकार न किया तो भक्त ने बिगड़ कर कह दिया कि हम आपकी सेवा नहीं करेंगे। जब इतने पर भी साधु न हटे तब हाथ पकड़ कर धक्का देकर साधु को निकाल दिया। वृद्धा के रूप में श्री लक्ष्मीजी भक्त के सब कृत्य देख रही थीं और विचार कर रही थीं कि किस प्रकार धन की चाहवश यह भक्त सन्तरूप भगवान् का अनादर कर रहा है और मेरा आदर कर रहा है; सत्य ही है कि यह न भगवान् को चाहता है न मुझे चाहता है, इसे तो जो कोई धन दे उसे ही चाहता है। भक्त साधुसेवी ने महात्मा को निकाल कर वृद्धा के पास आकर प्रार्थना की कि अब उस वृद्ध साधु को मैंने हटा दिया है आप यहीं निवास करें। भक्त की इस प्रार्थना को सुन अन्त में वृद्धा ने यही कहा कि तू महात्मा साधु पुरूषों का भक्त होकर जब उन्हें धक्का देकर निकाल सकता है तो मुझे भी कभी निकाल देगा। तू किसी का भक्त नहीं है धन का भक्त है अतः मैं तेरे यहाँ कदापि न ठहरूँगी; ऐसा कह कर वृद्धा भी चली गई फिर कुछ दूर चलने पर किसी को न दिखाई दी।

ऐसे भक्त तो सर्वत्र मन्दिरों में तीर्थों में अनेकों मिला करते हैं जो कि भगवान् से कहीं धन, कहीं सम्मान अथवा भोग सामग्री चाहते हैं परन्तु भगवान को नहीं चाहते हैं। इस प्रकार

के भक्त ऐसे भगवान् को ही पसन्द करते हैं जो स्तुति मात्र से प्रसन्न होता है अधिक दान या त्याग नहीं करना पड़ता।

संसार से कुछ चाहते रहने का परिणाम बन्धन है चाहों के त्याग का फल मुक्ति है। चाह के त्याग से वस्तु बनी रहती है बन्धन नहीं रहता क्योंकि सम्बन्ध टूट जाता है।

सत्य तो यह है कि चाह से रहित हुए बिना कोई प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर पाता।

स्वार्थभाव का त्याग किए बिना कोई अपने स्वामी की प्रेमपात्र की सेवा नहीं कर पाता।

ममता से स्वार्थयुक्त सेवा से कामनायुक्त प्रेम से मानव का पतन होता है।

जिसे चाह का त्याग करना हो वह देह को अपनी न मान कर प्राकृतिक विधान से मिली हुई जान कर उसे संसार की सेवा में अर्पण कर दे और सेवा के बदले में कुछ भी न चाहे।

किसी प्रकार की चाह से ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है। चाह के त्याग से ही कोई योगी हो सकता है, निष्काम प्रेमी हो सकता है, सत्य तत्त्व का बोध प्राप्त कर सकता है।

चाह से ही चित्त अशुद्ध होता है पराधीनता बढ़ती है।

चाहों का अन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति आ जाती है जो बोध की भूमि है। इच्छाओं के त्याग से शान्ति मिलती है।

संसार की चाह ने ही परमात्मा से विमुख बना रखा है।

भगवान् की चाह भी यह सिद्ध करती है कि अभी तक जीव संसार को चाहता है। योग की चाह भी यही सिद्ध करती है कि जीव भोग की चाह में फँसा हुआ है। प्रेम की चाह से

भी यह सिद्ध होता है कि जीव संसार के ही रागद्वेष में जकड़ा हुआ है।

जिसने चाह का त्याग किया है उसे सभी चाहते हैं चाहयुक्त को नहीं।

असत् अनित्य की चाह छोड़ देने से सत्य से स्वतः प्रेम हो जायगा। चाह करते ही चाही हुई वस्तु दूर भागती है। चाह छोड़ते ही छाया की भाँति संसार पीछे पीछे दौड़ता दीखता है।

''भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम।

अब जो नफरत हमने की तो बेकरार आने को है।।''

जो कुछ नहीं चाहता उसके भीतर से संसार निकल जाता है।

मनुष्य की चाह में भेद है, एक ऐसी चाह हे जो किसी से किसी की प्रशंसा सुनकर हो जाती है और एक ऐसी भी चाह है जो जीवन में आवश्यकता प्रतीति होने पर होती है कुछ ऐसी वस्तुओं को भी चाह होती है जो निर्वाहमात्र के लिये आवश्यक है।

अनेक चाहें मिटकर जब एक चाह रह जाती है वह शीघ्र ही पूरी होती है। एक चाह में सारी प्रीति सिमट कर पूर्ति की शक्ति बन जाती है।

एक चाह उसी भाँति प्रबल होनी चाहिये जिस प्रकार मछली को जल की चाह होती है, मछली जल के अतिरिक्त दूध शरबत कुछ नहीं चाहती।

जिसे संसार के बन्धन से मुक्त होना हो वह संसार से कुछ न चाहे यदि चाहे तो संसार से विरक्त महापुरूष की

संगति को चाहे। महापुरूष वीतराग की संगति भी परमात्मा के ज्ञान होने के लिये चाहे अन्य कुछ भी महापुरूष से न चाहे।

यदि कोई भगवान् को चाहे तो ीागवान् से कुछ न चाहे परमेश्वर से भगवान् से जो कुछ नहीं चाहता उससे भगवान् से भिन्नता मिट जाती है और जो कोई संसार से कुछ नहीं चाहता उसका संसार से माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। चाह रहित होने पर मुक्ति मिल जाती है तत्पश्चात् भक्ति मिल जाती है।

धन मानर भोग की चाह भक्ति–मुक्ति में बाधक है। चाहों को मिटाने के लिये संकल्प का त्याग करना होता है। संकल्प त्याग से शक्ति आती है।

अनेक संकल्पों ओर ीागों की चाह ने ही मनुष्य में अभाव उत्पन्न करके दुखी किया है। अनेकों कष्टों का मूल कारण यही है। सन्तसंग में मैंने सुना है कि– कामनाओं चाहों की निवृत्ति से चित्त की शुद्धि होती है। कोई ऐसा भी है कि जो तुमसे कुछ आशा नहीं रखता वही तुम्हारा हो सकता है, जिससे तुम कुछ नहीं चाहते उसी के तुम हो सकते हो।

एक शरणागत भक्त यही प्रार्थना करता है :–

मेरी चाही करन की यदि है तुम्हरी चाह।

तो अपनी चाही करो यही हमारी चाह।।

मेरी चाही हो वही जो हो तुम्हरी चाह।

तुम्हरी अनचाही कभी मत हो मेरी चाह।।

तुम्हरी चाही में प्रभो है मेरा कल्यान।

मेरी चाही मत करो मैं मूरख अज्ञान।।

'मैं' का त्याग ही अपरिग्रह है—सन्यास है अज्ञानी त्याग करते हैं ज्ञानी से त्याग होता है। जो त्याग का स्मरण करता है वह अज्ञानी है।

———

चिन्ता

या चिन्ता भुवि पुत्रपौत्रमरणं व्यापारसम्भाषणे।

या चिन्ता धनधान्यमोगयशसां लाभे सदा जायते।।

सा चिन्ता यदि नन्दनन्दनपदद्वन्दारविन्दे क्षणां।

का चिन्ता यमराजभीमसदनद्वारप्रयाणे प्रभो।।

संसार के स्वामी को भूलकर स्वयं वस्तु के स्वामी बनने वाले चिन्ता से बच नहीं सकते। एक सन्त ने समझाया था कि आस्तिक के जीवन में भयचिन्ता का स्थान नहीं रहता।

चिन्ता उन्हीं को होती है जो मोह लोभ माया मान की तृष्णा में बँधे रहते हैं। सांसारिक भोगसुखों की कामना रहते चिन्ता नहीं दूर होती है।

जिस व्यक्ति में कार्यकुशलता की कमी है आस्तिकता की कमी है वह चिन्तित रहते हैं। चिन्ता मरने के बाद जलाती है, चिन्ता जीवित रहते ही जलाती है।

जो कर्तव्यनिष्ठ है आस्तिक है उसके चित्त में चिन्ता के लिये स्थान ही नहीं मिलता।

एक फेलर नाम का धनी तेईस वर्ष की आयु में दस लाख डालर कमाये। प्रति सप्ताह बीस लाख डालर की आमदनी थी किन्तु उसका खर्च दो डालर भी भोजनादि में न था।

दिन–रात उसके आगे काम ही काम था। व्यापार में हानि की सम्भावना ने चिन्तित बना दिया। वह अपने को सबसे अधिक अमीर देखने की अतृप्त इच्छा रखता था।

चिन्ता के कारण रात को नींद न आती थी। तिरपन वर्ष की आयु में श्रम और चिन्ता के कारण शरीर में अस्थिपंजर मात्र रह गए। सहस्त्रो रूपये इलाज में खर्च हो रहे थे पर लाभ न था। औषधि से निराश होने लगा। डाक्टरों ने जीवन रक्षा के लिये चिन्ता भय छोड़ कर प्रसन्न रहने की, घूमने की, सबसे प्रेमपूर्वक मिलने की चेतावनी दी। उसे विवश होकर यही करना पड़ा। कुछ ही दिन में बिना औषधि के ही स्वास्थ्य में लाभ देखकर उस धनी की मति पलट गई। फिर तो वह लोगों की सेवा में ही प्रसन्न रहने लगा। परोपकार में थैली का मुख खोल दिया। अरबों रूपयों का दान उसने दिया और चिन्ता छोड़ने के पश्चात् वह 98 वर्ष की आयु तक जीवित रहा।

चिन्ता साँपनि काहि न खाया।

को जग जाहि न व्यापी माया।।

व्यर्थ चिन्ता ध्यान में महान् बाधक है। मानसिक कठिनाइयों की अपेक्षा चिन्ताओं का सामना करना बहुत कठिन है। किसी किसी में चिन्ता करने की आदत बन जाती है।

जितना अधिक अभिमान होगा या लोभ होगा अथवा मोह प्रबल होगा उतनी ही अधिक चिन्ता मानहानि की, धनहानि की अथवा वियोग की होती है जो कि साधारणतया हटाये नहीं हटती।

श्रद्धा विश्वास एवं प्रीति सजिह जो साधक भगवान् का चिन्तन कर सकता है वही सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति पा सकता है।

अत्यन्त उद्वेग की अवस्था में मन को शान्त बना देना सरल नहीं है; उस समय कोई शारीरिक श्रम करने लगे या फिर कहीं घूमने लगे अथवा कोई सन्तवाणी पढ़ने लगे तो शक्ति का प्रवाह दूसरी दिशा में मुड़ जाता है।

हर एक मनुष्य से व्यवहार में संग दोष वश भूलें होती ही रहती हैं जिससे भूलें न हों उसे जीवन मुक्त समझना चाहिये।

अपनी भूलों की त्रुटियों को महत्त्वहीन समझ कर उनकी उपेक्षा करना दुहरी भूल है औरा उसके लिये अनावश्यक शोक करते रहना क्षुभित होते रहना उतनी ही बड़ी भूल है।

शोकातुर क्षुभित चिन्तित चित्त बार बार पागल की भाँति एक घटना के आसपास चक्कर लगाता रहता है और वह अपनी शक्ति के अपव्यय को समझ नहीं पाता।

यदि तुम जीवन को निर्दोष बनाना चाहते हो तो जो कुछ अपने आप कष्ट रोग हानि वियोग आदि सामने आयें उन्हें पूर्व कर्मों का परिणाम समझकर धैर्य के साथ प्रसन्नतापूर्वक सहन करते जाओ उसी प्रकार, जैसे कोई व्यक्ति ऋण अदा करते हुए प्रसन्न होता है।

विवेकी बुद्धिमान् कहीं चिन्ता को सीान नहीं देते अपना कर्तव्य देखते हैं।

————

समाज को धर्मात्मा पुरूष की आवश्यकता है

इज्याचारद माहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।

अयंतु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।।

'यज्ञाचार दम अहिंसा स्वाध्याय आदि धर्मों से योग द्वारा आत्मदर्शन ही परम धर्म है।'

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा धृतिः।

अलोभ इति मार्गोयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।

'यज्ञ अध्ययन दान तप सत्य क्षमा धैर्य लोभरहित इन आठ लक्षणों से धर्म पूर्ण होता है।'

क्षमया वर्द्धिते धर्मः क्रोधाद्धर्मो विनश्यति।

'क्षमावान् पुरूष में धर्म की वृद्धि होती है क्रोध से धर्मवान् विनाश को देखता है।'

जिस धर्म के मूल में कामानायें वासनायें हैं वह धर्म शान्ति स्थापित नहीं कर सकता।

यज्ञ अध्ययन दान तप—यह चार धर्म के लक्षण दम्भी पाखण्डी धूर्त में भी देखे जाते हैं किन्तु सत्य क्षमा धृति अलोभ यह चार धर्म के लक्षण महापुरूषों में भी मिलते हैं।

जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर किसी के कुछ काम नहीं आता उसी प्रकार धर्म ज्ञान से रहित शक्तिशाली धनी किसी के काम नहीं आता।

धर्म तत्त्व का ज्ञानी किसी का ऋणी नहीं रहता और सभी कार्य परमेश्वर के नाते करता रहता है।

धर्मात्मा वही है जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरे के हित तथा प्रसन्नता का हेतु बने। एक सन्त ने बताया था कि जिसे हमारी आवश्यकता है उसकी ओर देखना धर्म का आरम्भ है।

अपनी प्रसन्नता के लिए संसार की ओर न देखना प्रत्युत संसार के हित तथा प्रसन्नता का साधन बन जाना धर्म की पूर्णता है।

जिस देश के पूँजीपति तथा विद्वान धर्म मर्यादा की अवहेलना (अनादर) करते हुए विषयासक्त बन जाते हैं वह देश या समाज पतित हो जाता है।

अहिंसा, क्षमा, सत्य, लज्जा, श्रद्धा, इन्द्रियसंयम, दान, यज्ञ, ज्ञान, ध्यान–यह धर्म के दस साधन हैं।

धर्म ही ईश्वर का सांसारिक रूप है। मनुष्य को ईश्वर से मिलने का अद्वितीय साधन है।

धर्म ही समस्त पुरूषार्थों का मूल है।

सकाम धर्म से कामनाओं की पूर्ति होती रहती है। निष्काम धर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अध्ययन के द्वारा ज्ञात हो सका, धर्म में अपार शक्ति है वह सत्य रूप है। पुरूष के शरीर में दायें स्तन में धर्म है पृष्ठभाग में अधर्म है।

धर्म की 13 पत्नी हैं :– श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री, मूर्ति। अधर्म की पत्नी का नाम मृषा है।

दम्भ, लोभ, क्रोध, कलि, भय, यातना, माया, शठता, हिंसा, दुरूक्ति, मृत्यु नरक इन सबकी उत्पत्ति मृषा से हुई है।

धर्म के चार पैर हैं :– (1) सत्य (2) दया (3) शान्ति (4) अहिंसा।

सत्य के बाहर भेद हैं :– झूठ न बोलना, स्वीकार किए हुए का पालन, प्रिय वचनभाषी, गुरूसेवा, नियमपालन में

दृढ़ता, आस्तिकता, साधुसंग, मातापिता का प्रिय कार्य, बाह्य शौच, अन्तर शौच, लज्जा, अपरिग्रह (संचय न करना)।

दया के 6 प्रकार हैं :– परोपकार, दान, मृदुभाषण, अपने को छोटा समझना, समत्वबुद्धि, विनयी।

अहिंसा सात प्रकार से पूर्ण होती है :– आसन जय, दूसरे को तन मन वाणी से दुःख न देना, श्रद्धा, शान्त भावयुक्त बर्ताव, सर्वत्र आत्मीयता प्राणियों में भी आत्मबुद्धि, अतिथिसत्कार।

वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहते हैं स्वभाव से विपरीत क्रिया विधर्म है।

भगवान का धर्म है कृपा और जीव का धर्म है साधन।

आसुरी स्वभाव वाले को ग्रहण एवं संग्रह प्रिय लगता है। उसे शक्ति का विकास तथा उपभोग और जाति मात्र का सुख ही धर्म प्रतीत होता है।

मानवी स्वभाव वाले को त्याग प्रिय लगता है। उसे गुणों का विकास मर्यादित भोग प्राणिमात्र का हित स्वधर्म दीखता है।

समस्त सुखों का मूल धर्म ही है।

परलोक में केवल धर्म ही सहायक होता है। धर्म शाश्वत है कभी मिट नहीं सकता। धर्म का ज्ञान भले हो न हो पर वह नष्ट नहीं हो सकता, धर्म से हम विमुख हो सकते हैं खो नहीं सकते।

धर्मोपार्जन के लिए त्याग, सन्तोष, संयम, सदाचार, सद्भावना अत्यंत आवश्यक है।

जो धन में और कामोपभोग में आसक्त नहीं है वही धर्मात्मा हो सकते हैं।

लोभी तथा कामी को धर्मचर्चा प्रिय नहीं लगती।

विचारवान् सज्जन जप, सन्ध्या, पूजापाठ को ही धर्म या साधन नहीं मानते प्रत्युत वे साथ ही साथि सत्य, दया, श्रम सेवा एवं गुरूज्ञान में अटूट श्रद्धा रखते हैं।

वास्तविक धर्माचरण से अन्त में मनुष्य वासनारहित हो जाता है।

धर्म के चार भाई है :– धर्म, राजा, चोर, अग्नि (क्रोध, ईर्ष्या, लोभरूपी, अग्नि)।

धर्मात्मा पुरूष सबको प्रिय होता है जिसकी सभी को आवश्यकता है वही धर्मात्मा पुरूष है।

बौद्धमत के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कोई नास्तिक भी धर्मात्मा हो सकता है, यदि वह सत्य अहिंसा आदि धर्मों का आचरण करता है।

पापात्मा का धर्मात्मा होना दुष्कर है परन्तु पानी मनुष्य भक्त हो सकता है और भक्ति की साधना करते हुए वह धर्मात्मा हो सकता है।

भक्ति की साधना वही हे जो धर्मात्मा बनाये।

भले ही भक्ति सब धर्मों में नहीं है परन्तु भक्ति में सब धर्म हैं।

जहाँ धर्म है वहीं विजय अभ्युदय आरोग्य सौभाग्य परम सुख और कल्याण हैं

जहाँ धर्म है वहीं भगवान् हैं।

जो धारण करता है वह धर्म है। जो धारण किया जाता है वह धर्म है। जो सबको व्यवस्थित रखता है वह धर्म है।

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादभिः।

अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।।

अर्थ–गो, ब्राह्मण, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभी, दानशील–इन सात ने पृथ्वी को धारण कर रखा है।

जिसे सभी मानव धारण करें जो सभी मानवों को धारण करे वही मानव धर्म है।

धर्मात्मा मानव के व्यवहारिक और पारमार्थिक जीवन में यह 14 गुण देखे जाते हैं :–

सत्य से ही प्रीति, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनुसूया (निन्दा चुगली करना), त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति, संतत दया एवं अहिंसा।

मर्यादा का पालन ही धर्मात्मा पुरूष की मानवता है।

सदाचारी धर्मात्मा की सारी प्रवत्ति बुद्धि विवेक के द्वारा होती है। दुराचारीद मनुष्य की प्रवृत्ति इन्द्रिय–सुखासक्ति के आधार पर होती है। धर्म से सुखद और अधर्म से दुःखद परिस्थिति मिलती है।

समस्त सद्गुणों से मानव धर्म पूर्ण होता है।

जिस आचरण से आत्मोन्नति हो मुक्ति प्राप्त हो वही मानव धर्म है। जिस मार्ग में चलने के कारण जीवात्मा अपने निर्विकारी स्वरूप को प्राप्त होता है उसी का नाम धर्म है।

देवपूजा, गुरूभक्ति, शास्त्र अध्ययन, संयम, नियमाभ्यास तप, दान यह सब नित्य कर्म धर्मपरायण की उन्नति में परम सहायक है।

धर्म और संस्कृति का मर्म त्याग है। जो जितना ही संस्कृत होगा धर्मप्रेमी होगा उतना ही त्यागी होगा।

धर्म एवं संस्कृति की पूर्णता के लिये हमें व्रत लेना है दूसरों के लिये जीने का, जो मिला है उसे देने का, प्राणिमात्र से प्रेम करने का, दया और क्षमा करने का।

जो शास्त्रों के अर्थों को उद्देश्यों का संचय करता है, जनता को सदाचार में नियुक्त करता है, जो स्वयं सदाचारी है वही धर्माचार्य है।

मैंने सुना है कि धार्मिक होना साधना है धार्मिक दीखना श्रृंगार है। धर्म से अपने को सजाना, धार्मिक दीखना दूसरों के लिये है परन्तु धार्मिक होना साधु होना अपने लिये है।

———

धर्मशील म क्षमा का सर्वोच्च स्थान

क्षमातुल्यं तपो नास्ति नो सन्तषात्परं सुखम्।

न तृष्णायाः परोव्याधिनं च धर्मो दया परः।।

क्षमा के समान अन्य तप नहीं, सन्तोष के समान अन्य सुख नहीं, तृष्णा से अधिक व्याधि नहीं, दया के समान सुन्दर सरल अन्य धर्म नहीं।

क्षमाशीलता मानव जीवन के सुन्दर निर्माण में सर्वोत्कृष्ट सहायक दैवी गुण है। सन्त के प्रवचन में मैंने सुना था कि–क्षमा परमेश्वर का स्वभाव है। क्षमा से बैर का अन्त हो जाता है, बुराई के बदले में भलाई होने लगती है।

क्षमाशील मानव अभिमानरहित हो जाता है।

क्षमा कर देने से और क्षमा माँग लेने से चित्त शुद्ध हो जाता है। जो सभी में अपने प्रियतम प्रभु का दर्शन करता है या जो सभी को परमेश्वर को ही प्रिय आत्मा मानता है वही क्षमाशील हो सकता है। जो किसी से कुछ आशा नहीं रखता और जो किसी का बुरा नहीं चाहता वही क्षमाशील हो सकता है।

अधिकार एवं धन मान की लोलुपता क्षमाशील नहीं होने देती। जो अपने प्रति प्रतिकूलता का व्यवहार देखकर अपनी बुराई सुनकर अपने दृश्य अदृश्य कर्म का ही फल जानता है वही क्षमावान् हो सकता है।

रहीम साहब पालकी में राजभवन जा रहे थे। एक निर्धन कुम्हार ने निर्धनता से अति दुखी होकर जेल जाने की युक्ति सोची और रहीम खानखाना की पालकी में लोहे की पंसेरी फेक कर मारी। रहीम साहब ने ंसेरी उठवाकर पालकी में रखवा ली। दरबार में आकर पाँच सेर सोना तुलवा कर कुम्हार के घर भिजवा दिया। लोगों ने कठिन दण्ड की कल्पना की थी परन्तु रहीम के इस व्यवहार को देखकर और इसका कारण पूछने पर यही उत्तर मिला कि कुम्हार ने मुझे पारस समझ कर लोहा फेंका था इसीलिये उसे पारस की ओर

से लोहे के बदले में सोना मिलना चाहिये–यह है बड़ों की आदर्श क्षमा।

क्षमा बड़े जन करत हैं छोट करत उत्पात।

काह विष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात।।

जब संसार में सभी कुछ निस्सार है तब हानि अपमान दुःख भी निस्सार हैं–ऐसा समझकर किसी के दुःख देने पर क्रोध न करके क्षमा करना वीर पुरूष का कर्तव्य होता है। क्षमा वीर का भूषण है।

लाठी की चोट लगने पर कोई लाठी पर क्रोध नहीं करता प्रेरक पर करता है उसी प्रकार अपकारी पर क्रोध न करके अपने भीतर द्वेष पर क्रोध करो क्योंकि द्वेष ही दूसरे को दुःख देने की प्रेरणा करता है।

जिस प्रकार काँटे तथा कंकड़ पत्थर की चोट से बचने के लिए कोई पृथ्वी को चमड़े से नहीं ढक सकता किन्तु अपने पैर में चमड़े का जूता पहिन कर काँटों वाली पृथ्वी पर चल सकता है उसी प्रकार संसार में प्रतिकूलताओं का निवारण सम्भव न होने के कारण यदि अनुकूलता का राग छोड़ दिया जाय तो प्रतिकूलता के दुःख से कोई भी मानव बच सकता है।

दूसरों को हम धर्मपरायण क्षमाशील त्यागी नहीं बना सकते पर स्वयं ऐसे हो सकते हैं जैसा कि दूसरों को देखना चाहते हैं। दृढ़ संकल्प में सभी प्रकार की सफलता निश्चित है।

———

सन्तोष पर सन्तों के विचार

एक सन्त ने मुझे समझाया कि अवसर पर जब चित्त सन्तोष धारण करता है तब दिव्य चमत्कारों, अपूर्व दृश्यों एवं घटनाओं का प्रभाव नहीं पड़ता।

चाह के मिटने का नाम सन्तोष है।

जितना कुछ है उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है, सन्तोष ही परम लाभ है।

संसार से अथवा किसी वस्तु व्यक्ति के संयोग से जो सुख मिलता है उसमें सन्तोष करना परम लाभ की बात है।

किन्तु परमेश्वर से जो कुछ मिलता है या परमेश्वर का योग जिस साधन भजन सेवा सत्कर्म पुण्यदान तथा त्याग प्रेम से मिलता है उसमें कहीं सन्तोष नहीं करना चाहिये।

परमात्मा के स्मरण चिन्तन ध्यान में सन्तोष न करना चाहिये।

भाग्यवश हमारे पास जो कुछ उत्तम मध्यम निकृष्ट शक्ति सम्पत्ति संयोग मिले हैं उसमें सन्तोष करके सन्तुष्ट रहना पारमार्थिक उन्नति में सहायक होता है।

लेकिन संगदोष के परिणाम में जैसे कुछ हम हैं उससे सन्तुष्ट न रह कर दोष के नाश, गुण विकास का प्रयत्न करना चाहिये।

जो सन्तोष धारण नहीं करता उसी में तृष्णा प्रबल होती है। तृष्णा महा दुःखदायी व्याधि है।

तृष्णा को तृप्त करने के लिये जितनी पूर्ति की जाती है उतनी ही और अधिक पाने की भूख प्रबल होती जाती है।

अधिक से अधिक धन मान अधिकार भोग की अतृप्त कामना को तृष्णा कहते हैं।

तृष्णा वह राक्षसी है जो अपने खिलाने वाले को ही खाने के लिये उद्यत रहती है। लोभ मोह क्रोध कामादि इसी तृष्णा की सन्तानें हैं।

तृष्णा का त्याग, वासना का नाश, सर्व हितकारी प्रवृत्ति और स्थिर बुद्धि प्राप्त करना जीवन की उत्कृष्ट सफलता है। सन्तोषी ही ऐसी सफलता प्राप्त करता है।

साधक के पास जो सामग्री है उससे तो सन्तुष्ट रहना चाहिये किन्तु साधन सिद्धि के पूर्व जैसा कुछ साधक का जीवन है उससे सन्तुष्ट न रह कर अपने को अधिक त्यागी और प्रेमी बनना चाहिये।

————

दया

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।

तुलसी दया न छाँड़िये जब लगि घट में प्रान।।

दूसरों को कष्ट न देना अहिंसा धर्म है।

दूसरों को सुख देना दया है। दया करते रहने से, दान करते रहने से और इन्द्रियों के दमन से सर्व सिद्धि सुलभ हो जाती है।

परमेश्वर की प्राणिमात्र पर दया है, दया से ही सब कुछ मिलता है। जब मनुष्य प्रभु की दया को भूल जाता है तभी अभिमानी बन जाता है। मन पाप में लिप्त हो जाता है।

जो दाता की याद करता है उसी के प्रति याद उलट कर दया बन जाती है। सदा परमात्मा को याद रखना चाहिये।

प्रभु की दया दीन दुखी चाहते हैं। जिनके पास योग, भक्ति साधन, धन सम्पत्ति का अभाव है, वही प्रभु की दया के पात्र होते हैं।

दया भगवान् का गुण है,दयावान् मानव भगवा को प्रियन् होता है।

भगवान् की दया दुःख की कृपा से होती है।

दया दीन अकिचन के पास जाती है उसके पीछे सभी सद्‌गुण साथ ही रहते हैं।

राम नाम लेते रहो धरे रहो मन धीर।

कबहुँक काज सुधारि हैं दयासिन्धु रघुबीर।।

————

सन्त की दृष्टि में उन्नति

दया धर्म हृदय बसे बोले अमृत बैन।

तेई ऊँचे जानिये जिनके नीचे नैन।।

जीवन में जब कमी का दुःख होता है तभी उन्नति की अभिलाषा होती है।

मिली हुई संपत्ति सम्पादन के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना गुणविकास तथा उन्नति का उपाय है।

उन्नतिशील पुरूष वही है जो अपनी योग्यता द्वारा किसी का ऋणी न रहे और अपनी प्रसन्नता अन्य किसी पर निर्भर न रखे सदा दूसरों के काम आता रहे।

शक्ति के अनुसार योग्यतापूर्वक सद्व्यवहार एवं श्रम से मानव उन्नतिपथ पर बढ़ता ही जाता है।

पराये दोषों के चिन्तन से भी उन्नति का पथ ढक जाता है। ईर्ष्या द्वेष घृणा क्रोध कलह उन्नति में बाधक हैं।

अपनी अच्छाई दूसरों की बुराई भूल जाने से उन्नति होती है। कर्तव्य पालन से मान के दान से उन्नति होती है।

आस्तिक की उन्नति दृढ़ता, विश्वास, शरणागति द्वारा होती है।

वर्तमान जीवन से असन्तोष होने पर उन्नति हो सकती है।

बड़ा भया तो क्या भया जैसे पेड़ खजूर।

पंछी को छाया नहीं फल लागैं अति दूर।।

दूसरों से भोग तथा मान चाहने वाला उन्नति नहीं कर सकता। जो भोग सुखों में आसक्त है वह विरक्त होने पर ही उन्नति को प्राप्त हो सकता है।

उन्नति के लिये प्रभु की कृपा पर विश्वास और उनकी दया से जो दान मिला है उसके सदुपयोग के लिये विचार यही दो मार्ग हैं। एक सन्त ने यह भी कहा है कि–शारीरिक

उन्नति के लिये सदाचार, मानसिक उन्नति के लिये सेवा, आत्मिक उन्नति के लिये त्याग आवश्यक है।

जितेन्द्रियता, विश्वसेवा, भगवच्चिन्तन की जैसे–जैसे वृद्धि होती जाती है वैसे–वैसे सभी दोष मिटते जाते हैं; गुण बढ़ते जाते हैं यही जीवन की उन्नति का क्रम है।

देवपूजा, गुरूभक्ति, शास्त्र अध्ययन, संयमाभ्यास, तप, दान, यह छः नित्य कर्म उन्नति के साधन हैं।

———

ज्ञान की महिमा

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः श्रेष्ठ विदुर्मम।

ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञाने नासौ विभर्तिमाम।।

जो ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न पुरूष हैं पवे ही मेरे वास्तविक स्वरूप को जानते हैं इसीलिये ज्ञानी मुझे सबसे अधिक प्रिय है।

तपस्तीर्थ जपो दानं पवित्राणि तराणि च।

नालं कुर्वन्ति तां सिद्धि या ज्ञान कलया कृता।।

तत्व ज्ञान के लेशमात्र उदय होने से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह तपस्या, तीर्थ, जप दान अथवा पवित्रता और किसी भी साधन से पूर्ण नहीं हो सकती।

यह ज्ञानी ही जानते हैं कि आत्मा पापरहित है, बुढ़ापा से रहित है, मृत्यु, शोक, भूख प्यास से रहित है, सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है।

ज्ञान, इच्छा, क्रिया यही आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं।

आत्मज्ञान, आत्मपुरूषार्थ, आत्मश्रद्धा इन तीनों के योग से परमात्मप्रेम की प्राप्ति होती है।

ज्ञान की कमी से प्राणी संसार का सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी रंक है, रिक्त हे, वांछायुक्त है।

धन के लिये, मान के लिये अथवा भोग के लिये ही श्रम करते रहना अज्ञानी के जीवन का उद्देश्य है।

भलाई–बुराई का ज्ञान प्रायः सभी को कुछ न कुछ मिला ही है। कितना ही पापी क्यों न हो परन्तु अपने लिये वह भी बुराई नहीं चाहता किन्तु दूसरों के साथ बुराई करता है।

जितना ज्ञान मानव को प्राप्त है उसका अनादर करना सभी अपराधों पापों का मूल है। एक सन्त ने बताया है कि–जो जानते हुए नहीं मानता, सामर्थ्य होते हुए नहीं करता उसे कोई नहीं जना सकता उससे कोई नहीं करा सकता।

लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना, तत्वज्ञान में बाधक बनती हैं। वासना के वश होकर जीव असंयमी बनकर मन बचन कर्म के द्वारा कर्म के बन्धन में पड़ता है।

ज्ञान एवं ध्यान के द्वारा जितने अंश में त्याग तप होगा उतने ही अंश में कर्म का बन्धन न होगा। संसार का चिन्तन छोड़ देने से, शरीर की विनश्वरता का दर्शन करने से वासना उत्पन्न नहीं होती। स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से कर्म का बन्धन कटता है।

ज्ञानपूर्वक शारीरिक मानसिक प्रतिकूलताओं को सहन करने से कर्मबन्धन रूकता है।

जिस प्रकार अनगढ़ पाषाण में मूर्ति, बिखरी रेखाओं में चित्र, बिना खिली भावनाओं में काव्य, मूक तारों में राग, निहित है वैसे ही आत्मा में पूर्णता निहित है। गुरूज्ञान के सहारे ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान की पूर्णता में क्षमा, दया, अनिन्दा, शैच, मंगल, उदारता, अस्पृहा आदि गुण अनायास ही व्यवहार में प्रकाशित होते रहते हैं।

गुरूज्ञान की कमी में सभी सिद्धि एवं शक्ति प्राप्ति काल में आकुलता से अनुरंजित हैं। रक्षा करते हुए चिन्ता से संयुक्त हैं। भोग करते समय क्षीणता और शोक से ग्रस्त हैं।

शोकस्थानसहस्त्राणि भयस्थानशतानि च।

दिवसे दिवसे मूढ़ माविशन्ति न पण्डितम्।।

शोक के हजारों अवसर भय के सैकड़ों कारण उपस्थित हैं किन्तु उनका प्रभाव मूर्खों पर ही होता है विचारवान् विवेकी जीवन पर नहीं होता।

विश्व की शक्तियों का जितना ज्ञान हमें होगा उतना ही हम उनका उपयोग कर सकते हैं। 'स्व' में जाग्रत रहकर हम मुक्त हो सकते हैं।

ज्ञान प्राप्ति से प्रकृति का दुर्गम प्रवाह हमारे वश में आ जाता है। अज्ञान वश हम प्रकृति प्रवाह में बह जाते हैं।

मनुष्य का समस्त ज्ञान सत्यमय शिवमय एवं सुन्दर होने का साधन है। अज्ञान से हम देहमय दु:खमय बने रहते हैं।

जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह स्वयं प्रकाश आपका निज स्वरूप है।

निर्विकल्प ज्ञान को स्वरूप कहते हैं, निर्विकल्प स्थिति को अवस्था कहते हैं।

तीनों शरीरों से असंग होने पर स्वरूप का ज्ञान होता है।

भोक्ता का अन्त होने पर तत्त्वज्ञान होता है।

सत्य सर्वत्र विद्यमान है फिर भी यदि वह किसी को नहीं दीखता है तो मानी हुई दूरी के कारण नहीं दीखता अर्थात् न जानने के कारण ही वह दूर मान लिया जाता है।

न जानने पर जो जगत है जानने पर वही ब्रह्म है। नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य को जानो। निज स्वरूप का अनुभव करो जो सभी अवस्थाओं से अतीत है।

अपने निज स्वरूप की अचलता का बोध ही सत्य ज्ञान है।

आत्मानुभव होने के लिये सभी स्वीकृतियों को हटा देना अनिवार्य है।

जगत में वही रहने योग्य है जिसे जगत् आत्मस्वरूप दीखता है।

जिस इन्द्रियज्ञान को साधारण व्यक्ति सुखोपभोग में उपयोग करते हैं वह सेवा के लिये होना चाहिये।

जिस बुद्धि—ज्ञान का उपयोग विवाद में, परदोषदर्शन में होता है वह अपने भीतर दोषदर्शन के लिये और उन्हें त्याग के लिये होना चाहिये।

निर्मल बुद्धि में ही यथार्थ ज्ञान होगा प्रज्ञा में तत्व बोध होगा।

तत्त्वज्ञान के लिए बुद्धिमान को सांसारिक व्यवहार के अनुभव की भी आवश्यकता है।

इन्द्रियों का ज्ञान सुखोपभोग की ओर तथा बुद्धिज्ञान उसके परिणाम की ओर आकर्षित करता है।

इन्द्रियज्ञान हमें रागद्वेष में आबद्ध करता है, बुद्धिज्ञान त्याग प्रेम प्रदान करता है।

बुद्धिज्ञान का अनादर और इन्द्रियज्ञान का आदर ही साधना तथा संयम को सफल नहीं होने देता।

कर्म से उपभोग मिलता है, सद्भाव से भगवान् मिलता है इसी प्रकार त्याग से ज्ञान मिलता हे प्रेम से भगवान् मिलता है।

दूसरों के काम आना शुभ कर्म हैं, आत्मभाव ही अर्थात् पूर्ण अपनत्व ही सद्भाव है और वासना तथा मोह लोभ ममता अभिमान आदि दोषों को छोड़ना ही त्याग है।

ज्ञान किसी वस्तु से नहीं आता प्रत्युत ज्ञान ही वस्तुओं को प्रकाशित करता है।

धर्मोमद्भक्तिकृत प्रोक्तो ज्ञानं चेकात्म्यदर्शनम्। (श्रीमद्भा0)

ऊधव जी से भगवान् कहते हैं कि जिससे मेरी ीक्ति हो वही (साधक का) धर्म है, जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो वही ज्ञान है।

सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरूते तथा।। (गी04–37)

जैसे प्रज्जवलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजितं संतरिष्यसि।। (गीता 4–36)

यदि तू सर्व पापियों से भी अधिक पाप करने वाला हो तो भी ज्ञानरूप नौका द्वारा निस्सन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जायगा।

ज्ञान प्राप्ति के लिये ज्ञानी की भक्ति करो। तन–मन–धन की आसक्ति का त्याग किये बिना ज्ञानी की भक्ति नहीं होती।

ज्ञानी की उपासना केवल ज्ञान के लिये ही करनी चाहिये। ध्यान रखना है कि शास्त्रवित् संसार को जानता है और आत्मवित् परमात्मा को जानता है। पाण्डित्य के भीतर होता कुछ और है, जानता कुछ और है, मानता कुछ और है।

———

स्थिरबुद्धि

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।

दुःखों की प्राप्ति में जिनका मन उद्वेग रहित है और सुखों की प्राप्ति में जिनकी स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग भय क्रोध नष्ट हो गए हैं ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि वाला कहा जाता है।

जो कामनाओं का त्यागी है, जो आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

भोग, ऐश्वर्य में आसक्त मानव बुद्धियोगी नहीं हो सकता।

राग, भय, स्पृहा, चिन्ता, क्रोध के रहते बुद्धि स्थिर नहीं होती।

कछुवा की भाँति जो विषयों से इन्द्रियों को समेट लेता है उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

जो सदा प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि में स्थिरता आती है।

आत्मा में अनन्त शक्ति, सामर्थ्य एवं अनन्त ज्ञान है—बुद्धि योग के द्वारा ही इन सबकी जाग्रति होती है।

जिससे नित्य योग है उसी को 'स्व' कहते हैं। इसका बोध स्थिरबुद्धि द्वारा ही होता है।

बुद्धियुक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर जन्मबन्धन से मुक्त निर्दोष अमृतमय परम पद को प्राप्त होते हैं—ऐसा भगवान् का वचन है।

इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर जो प्रवृत्ति है वह मनुष्य को दुराचारी बनाती है। बुद्धि ज्ञान के अनुसार जो प्रवृत्ति है वह मनुष्य को सदाचारी बनाती है।

सहस्त्रो ज्ञानियों का एक ही लक्ष्य

अनेकों पथिक चर्चा करते रहते हैं कि 'अमुक मार्ग अच्छा है' पर स्वयं चलते नहीं हैं।

लक्ष्य वही है जो नित्य प्राप्त है, लक्ष्य की विस्मृति होती है, अभाव नहीं! विस्मृति होती है किसी न किसी प्रवृत्ति से और प्रवृत्ति होती है प्रलोभन से।

विवेकयुक्त मानव को ही अपने लक्ष्य का ज्ञन होता है। लक्ष्य पर दृष्टि रहते हुए जो जीवन में यात्रा करता है वही बुद्धिमान पथिक है।

जिस पथिक को अपने गन्तव्य लक्ष्य का ज्ञन न हो फिर भी यात्रा करता जा रहा हो वह भ्रमित यात्री है।

मानव मात्र को मृत्यु प्रिय नहीं है अमरत्व की चाह है।

ज्ञान की कमी प्रिय नहीं है, पूर्ण ज्ञान चाहता है।

दुःख प्रिय नहीं है, नित्यानन्द चाहता है।

बन्धन प्रिय नहीं है, मोक्ष चाहता है।

पर आधीनता प्रिय नहीं है,ईश्वत्व–स्वामित्व चाहता है।

मनुष्य के ह्रदय की अभिलाषा है कि जीवन अविनाशी हो, पूर्ण ज्ञान हो, पूर्ण आनन्द हो, बन्धन रहित मोक्ष हो, साथ ही स्वामित्व अर्थात ईशत्व हो–यही जीवन का लक्ष्य है। यह पांच लक्षण जहाँ एक साथ मिलते हैं उसी को नित्य मुक्त परमेश्वर

कहते हैं। कोई नास्तिक परमेश्वर को भले ही न माने परन्तु इन पांच लक्षणों से युक्त वह चाहता है परमेश्वर को ही।

सनातनधर्म में ही यह विशेषता हैकि पूर्ण लक्ष्य का ज्ञान करा देता है अन्य सभी धर्म तीन लक्षणयुक्त लक्ष्य को जान सके परन्तु मोक्ष किसी का लक्ष्य नहीं है। सनातन धर्महीं मोक्ष तक ले जाता है। ईशत्व को प्राप्त कराता है। ब्रह्मपद में पहुँचा देता है।

———

भगवान् और भक्ति

'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुण खानी।

बिन सत्संग न पावहिं प्राणी।।'

अपने से भिन्न को अभिन्न मानने से आसक्ति होती है और अपने से अभिन्न को अभिन्न जान लेने पर भक्ति होती है।

जो कुछ अपने से भिन्न है उससे मनुष्य प्रीति करते हुए आसक्त होता है। जो परम तत्त्व अपने में अभिन्न है उससे प्रीति होने पर मानव भक्त होता है।

जो कुछ अपने से भिन्न है वह सब संसार की ही वस्तु है और वह अवश्य ही जड़ है, एकदेशी है, परिवर्तनशील है।

जो कुछ अपने आपसे अभिन्न है वही सत्य है,चेतनस्वरूप है, नित्य है, अविनाशी है। अनित्य विनाशी जड़ वस्तुओं से प्रीति करने पर आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिवश ही वस्तुओं के प्रति लोभ, व्यक्तियों के प्रति मोह की वृद्धि होती है। अनित्य विनाशी वस्तुओं से लोभ—मोह हो जाने के कारण ही उनके परिवर्तन तथा विनाश होने पर हानि का दुःख, वियोग का दुःख भोगना पड़ता है।

संसार में हानि एवं वियोग के दुःख से अनेकों बार दुःखी होने पर मानव में दुःख से मुक्त होने का विचार जाग्रत होता है। विचार के द्वारा ही बुद्धिमान् मानव को अपने दुःख का कारण एकमात्र विनाशीवस्तुओं से प्रीति का होना दिखाई देता है। तभी वह मनुष्य विनाशी वस्तुओं से अपनी प्रीति हटाकर

नित्य करते अविनाशी तत्त्व की ओर मोड़ देता है—इसे ही भक्ति की साधना कहते हैं। सन्त ने समझाया है कि आसक्ति अभिन्न मानने पर होती है और भक्ति जानने पर होती है।

जो वास्तव में नहीं है वह माना जाता है और जो वास्तविक सत्य है उसे मानने की आवश्यकता नहीं होती, वह जाना जाता है।

नित्य विद्यमान सत्य परमात्मा का चिन्तन करने से अथवा असत् का चिन्तन न करने से नित्य प्राप्ति का योगानुभव होता है।

जो वास्तविक सत्य परमात्मा नित्य अभिन्न जाना जाता है उसका कहीं अभाव नहीं होता, कभी सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। इसीलिये उससे प्रीति करने पर कभी वियोग का दुःख नहीं होता; तभी तो भक्त सदा भय से एवं दुःखों से मुक्त रहता है।

भक्त को यदि कहीं दुःख या भय हो सकता है तो परमात्मा से विमुख होने में ही हो सकता है; सन्मुख रहते हुए भक्त को दुःख नहीं होता।

भक्त वही है जो अपने भगवान् को कभी भिन्न देखे ही नहीं जिसे अपने आराध्य प्रभु की भिन्न दीखते हैं, उसके सामने आराध्य प्रभु के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु आ जाती है। कोई अन्य वस्तु तभी आती है जब उससे सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध तभी होता है जब सांसारिक वस्तुओं की कामना होती है। कामना तभी होती है जब सुख की तृष्णा प्रबल रहती है।

सांसारिक कामना ही भक्त को भगवान् से विमुख बनाती है। कामना रहित होकर ही कोई परमात्मा का भक्त हो पाता है।

कामना की पूर्ति में जो रस है इसी को अनित्य रस कहते हैं। प्रीति ही रसास्वाद का साधन है। जहाँ कहीं प्रीति होती है वहीं वस्तु सर्वोपरि सुखद सुन्दर प्रतीत होती है और उसी वस्तु में रसास्वाद आता है। रसास्वाद आने के कारण ही अनित्य वस्तुओं में आसक्ति हो जाती है, जो कि दुः का कारण बनती है।

मानव जीवन में रसास्वाद की ऐसी भूख है जोकि संसार की अनित्य विनाशी वस्तुओं के संयोग से कभी तृप्ति नहीं होती क्योंकि संसार में ऐसा कोई संयोग दीखता ही नहीं जिसमें वियोग न हो। अतः जब विवेकी मानव को प्रत्येक संयोग का अन्त वियोग में जब दीखने लगता है तब उसके योग की अभिलाषा करता है जो अपने से कभी भिन्न होता ही नहीं; जिसके योगानुभव से संयोग की दासता और वियोग का भय सदा के लिए छूट जाता है।

जिसका योग प्राणी के साथ नित्य रहता है उसी को परमात्मा अथवा भगवद्तत्त्व कहते हैं।

जो परमात्मा नित्य विद्यमान है उसका ज्ञान होने पर नित्य योग का अनुभव होता है। जिसे परमात्मा के नित्य योग का अनुभव होता है उसे ही अखण्ड रस की प्राप्ति होती है और जब परमात्मा दिव्य चिन्मय रूप से मन के स्तर तक उतर आता है (जिसे कि अवतरण कहते हैं) तब उस दिव्य चिन्मय रूप में पूर्ण प्रीति होने पर अनन्त रस का आस्वादन होता है।

ज्ञान के द्वारा अखण्ड आनन्द का और प्रेम के द्वारा अनन्त रस का आस्वाद मिलता है।

ज्ञान के द्वारा मानो उसे देखना है और प्रेम के द्वारा उसी से घुलमिल जाना है। यही ज्ञानयोग भक्तियोग का किंचित् सा कहने भर के लिए अन्तर है।

परमेश्वर से विमुख जीव वही है जो इच्छाओं, कामनाओं की पूर्ति का सुख लेते हुए परमेश्वर की सत्ता को नहीं जानते प्रत्युत वे किसी वस्तु या व्यक्ति को ही सुखदाता, पूर्तिकर्ता मान लेते हैं, इसीलिए ऐसे जीव वस्तु व्यक्ति में आसक्त रहकर लोभी मोही बनकर ईश्वरीय विधान से परिणाम में सुख का अन्त दुःख देखते हैं।

अनेकों भावुक सज्जन भक्ति की महिमा सुनकर भक्ति प्राप्त करने की उत्सुकता दिखाते हैं तदनुसार साधना भी करते हैं और कुछ समय बीतने पर भगवान् की कृपा नहीं होती– ऐसा मानकर सन्तोष करते हैं; ऐसे साधक यदि आत्मनिरीक्षण करें तब पता लगेगा कि अनेकों सांसारिक कामनाओं, इच्छाओं के बीच में भक्ति की एक धुँधली सी अभिलाषा है; उसकी पूर्ति के लिए उसी प्रकार साधारण सा प्रयत्न है; इसीलिए भक्ति के लिये जिसका त्याग होना चाहिए, जिसका दान होना चाहिये, दुर्बलताओं की निवृत्ति के लिये जितना तप होना चाहिये वह कुछ नहीं हो पाता इसीलिये भक्ति के पथ में प्रगति नहीं होती।

एक सन्त का निर्णय है कि भगवान् के दर्शन आत्मिक नहीं होते मानसिक होते हैं। संसार में भगवान् नहीं, भगवन्ता व्यापक है। भगवान् व्यक्ति नहीं अखण्ड शक्ति है।

भगवान् की भक्ति चाहने वाला वहीं है जो भक्ति के बिना कहीं भी कुछ भी पाकर चैन न लेवे। भगवान् से कुछ चाहने वाले सहस्त्रों प्रेंमी मिलते हैं परन्तु भगवान् से कुछ न चाहते हुए केवल भगवान् को ही चाहने वाले कहीं कोई बिरले ही प्रेमी दीखते हैं।

जिसकी चाह होती है उसी को पाकर चैन आता है। किसी को पानी की प्यास हो, पानी चाहता हो और मिठाई पाकर चैन लेवे धन पाकर या कोई ऐश्वर्य भोग की उत्कृष्ट सामग्री पाकर सन्तोष कर ले तो वह वास्तव में पानी का प्यास नहीं है। इसी प्रकार कोई भगवान् की भक्ति चाहे और संसार के सुखोपभोग में ऐश्वर्य मान माया में उलझ जाये, वही रस लेने लेने लगे तो निश्चित है कि भगवद् भक्ति नहीं चाहता।

संसार से कुछ पाने की आशा और सम्बन्ध ही भगवद्भक्ति में बाधक है। संसार से निराशा और भगवान् से मिलने की व्याकुलता ही भगवान् के सम्मुख कर देती है। संसार से निराश हुए बिना पूर्ण व्याकुलता नहीं आती, विषय–चिन्तन मिटे बिना भगवान् से सम्बन्ध नहीं जुटता, सम्बन्ध जुड़े बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति हुए बिना भगवद्–चिन्तन नहीं हो पाता।

भगवान् का निरन्तर स्मरण चिन्तन वहीं करता है जो भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लेता है, भगवान् से सम्बन्ध वही जोड़ता है जो संसार से निराश होकर निर्बल हो जाता है,

निर्बल निराश वही होता है जिसे अपने साथ अपना कुछ भी नहीं प्रतीत होता बल्कि सब कुछ भगवान् से ही मिला हुआ दिखाई देता है; जब सब कुछ भगवान् के ही विधान से मिला हुआ दीखता है तभी लोभ मोह अभिमान की निवृत्ति होती है। लोभ मोहादि दोषों की निवृत्ति होने पर जो प्रीति तन धन अधिकार तथा सम्बन्धियों में फँसी थी वही प्रीति सब ओर से हटकर भगवान् में लग जाती है और भक्ति का परम पावन रूप धारण करती है।

यद्यपि जहाँ तक प्राणियों में प्रीति का अंश दीखता है वह अनन्त प्रेमसिन्धु परमात्मा से ही सबको मिला है परन्तु अविवेकी प्राणी उसी प्रीति के योग से रस तो लेता है किन्तु परमात्मा से मिली हुई नहीं जानता है इसीए स्वयं अभिमानी बन जाता है। एक संत के प्रवचन में मैंने सुना था कि जिस वस्तु का स्वामी प्रथम से ही विद्यमान हो और बिना मूल्य के ही अपने जीवों को दान करता आ रहा हो उसी परमदाता सर्वस्व सर्वाधार स्वामी परमात्मा को न जानकर स्वयं क्षुद्र अहंकारपूर्वक मिली हुई वस्तुओं का स्वामी बनन—यही परमेश्वर से विमुख होना है और अहंकार रूपी पाप से घिर जाना है।

परमेश्वर से विमुख जीव में अहंकार अभिमान है—यह ऐसा पाप है जो किसी भी शुभ कर्म से दूर नहीं होता। यह तो तभी नष्ट होता है जब भगवान् की शरण में जाने के पश्चात् विनम्रता आती है। वह विनम्रता ही अहंकार को अपने भीतर पचा पाती है।

यद्यपि भगवान् के भक्त में केवल भगवान् के सेवक होने का अभिमान होता है परन्तु विवेक की पूर्णता में अहं के पूर्ण समर्पण होने में वह अभिमान भी नहीं रहता।

'मैं' की मूर्ति जब तक नहीं टूटती तब तक साधक भगवान् की मूर्ति बनाकर पुजारी बनता है किन्तु हो नहीं पाता।

परमेश्वर के सन्मुख होने वाले पुरूष वे हैं जो इच्छाओं कामनाओं की पूर्ति परमेश्वर की सत्ता से होते हुए जानते हैं और उसके विधान का ध्यान रखते हुए किसी वस्तु तथा व्यक्ति से ममता, आसक्ति न रखते हुए परमेश्वर परमात्मा से ही प्रीति करते हैं। यह सत्पुरूष भक्त होते हैं।

मनुष्य संसार में ऐश्वर्य के आगे झुकता है, माधुर्य में आकर्षित होता है और सौंदर्य में मोहित होता है परन्तु उसे स्थायी ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य और असीम सौंदर्य संसार में कहीं नहीं मिलते। तभी सांसारिक ऐश्वर्य माधुर्य सौंदर्य के पीछे भागने वाले प्राणी अन्त में निराश होते हैं और अगणित दुःख कष्ट भोगते हैं।

भगवान् की कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होने पर भक्त को भगवान् में ही शाश्वत ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य, असीम सौंदर्य का दर्शन मिलता है।

जिस साकार दिव्य चिन्मय रूप में एक साथ असीम आधुर्य, सौदर्य, ऐश्वर्य का योग दीखता है वही भगवान् है।

भगवान् उसे ही कहते हैं उस सब कुछ की पूर्णता हो जिसकी मानव हृदय में प्यास है, भूख है, अभिलाषा है।

संसार में जहाँ कहीं जिस वस्तु तथा व्यक्ति में किंचित ऐश्वर्य, माधुर्य, सौदर्य का दर्शन मिलता है वह उसी ऐश्वर्य, माधुर्य, सौंदर्य सिन्धु भगवान् से उतरता हुआ अंशमात्र है।

संसार में जहाँ कहीं ऐश्वर्य माधुर्य सौंदर्य दिखाई दे उसे भगवान् की ही विभूति समझना—यह विभूतियोग की साधना है। इसका वर्णन गीता में किया गया है।

यद्यपि भगवद् तत्त्व से अपने स्वरूप में एकता ही है भिन्नता नहीं। परन्तु जब तक जीव बुद्धियोगी नहीं होता तब तक वह भगवान् से नित्य योग की अनुभूति से वंचित रहता है।

सरल विश्वासपूर्वक जो भगवान् का नित्य स्मरण करते हैं उन्हीं को भगवद् कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होता है। बुद्धियोगी होने पर ही अनित्य के पीछे नित्य भगवद् तत्त्व दीखने लगता है।

प्रायः अनेकों बुद्धियों में यह प्रश्न उठता रहता है कि भगवान् कैसे हैं? क्या हैं? कुछ लोग भगवान् के विषय में जैसा कुछ सुनते हैं वैसा ही मान लेते हैं, कुछ प्रेमियों का निर्णय यही है कि भगवान् के विषय में जो कुछ पढ़ा—सुना जाता है अथवा उसमें जितना जिसकी बुद्धि में आ पाता है भगवान् उतने और वैसे तो हैं ही, उससे अगणित गुना अधिक, मन—बुद्धि में न आ सकने वाले भी हैं—ऐसा विश्वास रखना चाहिये।

भगवान् वास्तव में जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता है, भगवान् ही जीवन की ऐसी प्यास हैं कि जिसकी पूर्ति कहीं से कभी न हुई हो, न हो सकती है। जीव भले ही न जाने परन्तु वह अनजाने ही जिस ज्ञान की, स्वाधीनता की शक्ति की आनन्द की पूर्णता चाहता है। वही भगवद्पद है। जीव उसी महद् पद की प्राप्ति के लिये कभी न कभी उसी भगवान् के योग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार सभी भगवान् की ही ओर चल रहे हैं। यदि समझ–बूझकर चलें तो सहस्त्रों वर्षों की यात्रा थोड़े ही समय में पूरी हो सकती है। भगवद् प्राप्ति का अर्थ है पूर्णता की प्राप्ति, अपूर्ण रहते जीवात्मा कहीं भी स्वस्थ शान्त नहीं हो पायेगा। मानव असत् में, जड़ में, दुःख में आबद्ध है, वह यही चाहता है कि सच्चिदानन्द का योग हो। सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही भक्ति योग का रहस्य है।

एक दार्शनिक का निर्णय है कि सत्य की सत्ता में सभी मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं परन्तु सत्य की कोई मूर्ति सम्भव नहीं है। मूर्ति के राग से मुक्त होकर ही अमूर्ति के दर्शन होते हैं। जो रूप पर रूका है वह अरूप पर नहीं पहुँच पाता।

जो अहंकार से भरे रहते हैं वही भगवान से खाली रहते हैं। भगवान को समर्पित करने के लिये अहंकार 'मैं' और कुछ भी मनुष्य के पास नहीं है।

यह मनुष्य का अहंकार ही है जो अपनी ही तरह भगवान् की मूर्ति बनाता है और अपनी ही रूचि की पूजा करता है। जो विवेकी हैं वह भगवान् की प्रतिष्ठा मूर्ति में नहीं वरन् अपने आप में ही करते हैं।

प्रेम की महत्ता

यह प्रेम योगियों के उद्‌गार हैं।

प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय द्वे से लखें ज्यों सूरज अरू धूप।।
बड़भागी तिनके हृदय विध्यो प्रेम दृग बान।
तनकी तनक न सुधि रही बिसरि गये सब ज्ञान।।
प्रेम बराबर योग ना प्रेम बराबर ध्यान।
प्रेम बिना जग योग जप साधन थोथे जान।।
जा घट प्रेम न संचरे ता घट जानु मसान।
जैसे खाल लुहार की स्वास लेत बिन प्रान।।
प्रेम पंथ सोइ चलि सके जिन सब छोड़ी चाह।
जल्यो करे विरहग्नि में मुख नहिं निकसे आह।।
जो तू चाहे प्रेम धन विषयन सों मुँह मोड़।
श्रद्धा तत्परता सहित चित्त भजन में जोड़।।
विद्या बुद्धि विवेक को तजै सभी अभिमान।
सो पावे प्रभु प्रेम को जिहि सम तुलै न ज्ञान।।
प्रेम अमिय चाहै पियो करै विषय सों नेह।
विष व्यापे जारे हियो करै जर्जरित देह।।

मन विषयन में रमि रह्यो करै प्रेम की बात।

सो मिथ्यावादी सदा जग में आवत जात।।

दम्भी द्रोही स्वारथी बादी मानी पाँच।

ये खल नाहिन सहि सकें प्रेम अग्नि की आँच।।

इक अंगी बिनु कारनहिं इकरस सदा समान।

गनै पियहि सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान।।

ज्ञान दो को एक करने में और प्रेम एक को दो करने में समर्थ है।

योग बिना सामर्थ्य, ज्ञान बिना जीवन और प्रेम के बिना आनन्द की सिद्धि नहीं होती। एक सन्त से मैंने यह भी सुना कि प्रेम की गणना में एक और एक मिलकर दो नहीं होते वरन् एक होते हैं।

प्रेम की सब शक्तियाँ हृदय चक्र द्वारा प्रवेश करती हैं। द्वेष घृणा आदि विकारों की शक्तियाँ नाभिचक्र द्वारा प्रवेश करती हैं।

प्रेम ही नामामृत, रूपामृत, लीलामृत का आस्वादन कराता है।

प्रेम साध्य है। एकान्तनिष्ठा साधन है। जिसका हृदय एकान्त नहीं हुआ वह प्रेम को स्पर्श नहीं कर सकता।

प्रेम की पूर्णता ही पुरूषार्थ की परम सिद्धि है किन्तु यदि स्वार्थ का एक कण भी विद्यमान है तो वह प्रेम हृदय का एक

वेदनात्मक बन्धन बना रहता है। वही प्रेम को पूर्ण नहीं होने देता।

स्वार्थ के प्रत्येक विचार से रहित हो जाने पर यही प्रेम हृदय की पवित्र शक्ति बन जाता है।

जो तुम्हारे प्रति स्नेह रखते हैं उनके प्रति वैसा ही भाव रखना बहुत सहज है किन्तु तुम्हारी सच्ची उन्नति तब समझी जायगी जब प्रेम का भाव न रखने वालों के प्रति तुम प्रेम की धारा प्रवाहित करते रहो। प्रेम का पूरा धनी वही है जो अपने विरोधियों के प्रति भी प्रेम करता है।

प्रेमी साधक को किसी के कर्म का फल भुगताने की चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि कर्ता का कर्म ही स्वयं न्याय करता रहता है। कर्म के फल देने का काम न्यायाधीश पर छोड़ देना चाहिए। सच्चा न्यायाधीश परमेश्वर का अदृश्य विधान है।

प्रेमी साधक बदला चाहे बिना सबसे प्रेम करने की कला सीख ले–इससे स्वार्थ भाव नष्ट होता है।

जब तक प्रेम स्वार्थ रहित नहीं होता तब तक मनुष्य ईर्ष्या स्पर्धा आदि अनेकों दूषित वृत्तियों में उलझ जाता है।

प्रेमी के सूक्ष्म देह का रंग गुलाबी होता है किन्तु जहां प्रेम में अपने स्वार्थपूर्ति की कामनायें मिल जाती हैं, जब बीच में ईर्ष्या, डाह आदि विकार आ जाते हैं तब प्रेम के पवित्र गुलाबी रंग के साथ भूरा किरमची मैला रंग आ जाता है, यह दिव्य दृष्टि वालों को दिखाई देता है।

विश्व का विधिवत् संचालन निःस्वार्थ देवी प्रेम की शक्ति द्वारा ही होता है।

प्राणी भले ही न समझ पाये परन्तु सभी के पीछे प्रेम से पूर्ण एक दैवी जीवन विद्यमान है, उसी के योग से प्रीति निर्दोष और व्यापक बनती है तभी अनन्त रस की अनुभूति होती है।

जो प्रेमी साधक अपने प्रियतम प्रभु के कार्य के लिए आत्मसमर्पण करना चाहता हो उसे लौकिक पारलौकिक सभी इच्छाओं का त्याग करना चाहिए क्योंकि अपने लिए जो साधक कुछ चाहता है वही चाह प्रेम की पूर्णता में बाधक बनती रहती है। जब तक हृदय में किसी प्रकार की कामना का बन्धन शेष है तब तक निष्काम सेवा सम्भव नहीं है।

प्रेम के बीच में जहाँ तक स्वार्थ का अंश शेष रहता है वही बन्धनकारी बनता है।

सभी सद्गुणों में प्रेम का सर्वोपरि महत्व है, प्रेमी हृदय में अन्य सभी सद्गुणों की वृद्धि हो जाती है।

ईश्वर ही प्रेमस्वरूप है, यदि तुम्हें ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना है तो अपने में प्रेम की वृद्धि अवश्य ही करनी चाहिये।

तुम अपने में परमेश्वर की व्यापकता का अनुभव करना चाहते हो तो निर्विकार चैतन्य के रूप में अनुभव करो। इससे भी अधिक परमेश्वर के सगुण रूप को देखना चाहते हो तो अपने में ही शुभ संकल्प तथा ज्ञान और प्रेम के रूप में देखो।

इन तीन रूपों से तुम में ईश्वर ही व्यक्त हो रहा है। इन्हीं तीन रूपों में तुम ईश्वर का चिन्तन ध्यान करते हुए पूर्ण योगी हो सकते हो।

ईश्वर नित्य है, एक है, यद्यपि वह अपने तीन स्वरूपों में व्यक्त होता है।

प्रेम से ही प्रेरित होकर अपनी—अपनी शक्ति के अनुसार संसार के समस्त प्राणी कर्म करते हैं। जो मनुष्य प्रेम का आदर नहीं करता, प्रेम को नहीं पहचानता वह ईश्वर का योगी भक्त नहीं हो सकता।

ज्ञानस्वरूप गुरू की कृपा बिना प्रेम का उपयोग सत्य के लिये नहीं होता। ईश्वर ही ज्ञानस्वरूप गुरू है, गुरू कृपा से ही अनित्य से विराग होता है और नित्य जीवन से प्रेम होता है। पूर्ण प्रेमी ही परमात्मा से नित्य—युक्ति रहता है, नित्ययुक्त रहकर ही परमेश्वर का भजन करता है।

अनित्य देहादिक वस्तुओं में ही नित्य जीवन प्रकाशित है, जो नित्य है उसका कहीं भी कभी अभाव नहीं होता। सन्त प्रवचन में मैंने यह सुना है कि जो नित्य जीवन से प्रेम करता है वह किसी प्राणी को कष्ट, दुःख नहीं देंता और सर्वत्र दूसरों को सेवा सहायता के अवसर को पकड़ता रहता है। जो अनित्य वस्तुओं से प्रेम करते हैं वे ही परस्पर कहीं रागी, कहीं द्वेषी बने रहते हैं।

जो त्यागी और प्रेमी हैं वही सेवापरायण होते हैं। जो सेवापरायण होते हैं वे ही संसार में सबसे श्रेष्ठ पुरूष हैं, वे ही श्रेष्ठ पद प्राप्त करते हैं, वे किसी से कुछ भी नहीं चाहते हैं।

प्रेम का दुरूपयोग करने वाले व्यक्ति क्रोधी, ईर्श्यालु, परनिन्देक, हिंसक, क्रूरकर्मी, अन्धविश्वासी होते हैं–यह सब प्रेम के विरूद्ध पाप कर्म हैं। संत ने हमें यह भी समझाया है–जिस साधक को अपना प्रेम सत्य तक पहुँचा कर पूर्ण का योगी होना हो वह परनिन्दा, क्रूरता, अनित्य के प्रति अंधविश्वास तथा अपने अहंकार के मान अथवा सुखासक्ति एवं लोभ का त्याग कर दे। जब तुम अपने शरीर से, मन से तथा माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी आदि से प्रीति करते हो तब विचार करके देखो तुम्हें किसी की बुराई, किसी की निन्दा अच्छी नहीं लगती। बल्कि दोषों के रहते हुए भी तुम अपने स्नेह पात्रों की निन्दा नहीं करते हो। इसी प्रकार जब तुम परमेश्वर के नाते सभी प्राणियों को, सभी मनुष्यों को अपने प्रियतम प्रभु का समझ कर सभी को अपना मान कर प्रेम करोगे तब किसी की बुराई, किसी की निन्दा न करोगे। यही विश्व–प्रेम का परिचय होगा। जो विश्व में सभी के प्रति प्रेम करेगा वही विश्वनाथ की सहज प्रसन्नता का अपने प्रति अनुभव करेगा।

सच्चा प्रेमी वही है जिसे बीती हुई प्रपंच की घटनाओं की याद न आये, भविष्य की चिन्ता न रहे और वर्तमान में कहीं भी चैन न आये, प्रियतम का ही चिन्तन होता रहे।

जिसे अपने प्रेम पर विश्वास है वह कभी निराश नहीं होता। अखण्ड प्रसन्नता उसी के साथ रहती है, जो अपने में ही प्रियतम प्रीाु की स्थापना कर लेता है। उसे प्रभु की उपासना के लिए प्रार्थना आराधना के लिए अपने आपके

अतिरिक्त कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। वह स्वयं में ही संतुष्ट होता है स्थिर होता है इसीलिए पराधीन नहीं रहता।

हमें संत ने बहुत अच्छी बात समझाई कि–जिसका अनेक पर विश्वास है, अनेक से सम्बन्ध है वह प्रेम नहीं कर सकता वह तो अपने मन की रूचिपूर्ति का लोभी है।

कामना युक्त व्यक्ति भी प्रेम नहीं कर सकता। जैसा संग वैसी कामना होती है। जहाँ अनेकों इच्छाओं वासनाओं के बीच में भगवान् को देखने सी धुँधली सी अभिलाषा है वहाँ सच्चा प्रेम नहीं समझना चाहिए।

कोई भी मनुष्य जिसका त्याग नहीं कर सकता उसी से प्रगाढ़ प्रीति समझनी चाहिए।

धन के, अधिकार–भोग के तथा विषयरस के लाखों प्रेमी हैं। जो भगवान् की भक्ति छोड़े बैठे हैं; परन्तु भगवान् की भक्ति के लिए सम्पत्ति के लोभ का, पदाधिकार का, अभिमान का तथा विषएय सुखों का त्याग करने वाले कोई बिरले ही प्रेमी मिलते हैं।

संसार की चाह रहते प्रभु से सच्ची प्रीति नहीं होती।

मन की मान्यता में प्रीति करने से ही सारे संघर्ष होते हैं सीमित प्रति में समस्त दोष भरे रहते हैं।

सत्य के प्रति प्रेम के अभाव में ही दुःख हैं, बन्धन हैं, लड़ाइयाँ हैं, अनेकों दोष बनते रहते हैं।

जब प्रेम सासांरिक वस्तुओं के प्रति हो जाता है तब वही प्रेम लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषों में दिल जाता है।

अपूर्ण वस्तु से मिलकर प्रेम अपूर्ण रहता है; पूर्ण से मिलकर प्रेम पूर्ण हो जाता है।

प्रेम स्वयं ही आनन्द स्वरूप है, रस स्वरूप है। जीवन में जो काम है यह उसी प्रेम की अभिलाषा है, प्रेम की प्राप्ति में काम का अन्त हो जाता है यह संत का अनुभव है।

प्रेम से ही प्रेरित होकर मनुष्य सब कर्म करता है, सब कुछ सहता है, त्यागी तथा दानी होता है।

प्रेमी वही है जिसे प्रियतम और उसकी इच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न दे। जो संसार की ओर देखता है तथा जो प्रेमशन्य है वह ईश्वर से विमुख है।

प्रेमविहीन ज्ञान से जड़ता आती है और ज्ञानहीन प्रेम से मोह तथा कामुकता बढ़ती है। दोनें के योग में दिव्यता होती है।

प्रेम के द्वारा ही प्रियतम प्रभु से अभिन्नता प्राप्त होती है। प्रेम में अपने को समर्पण करना होता है और प्रियतम की सेवा में अपने साथ जो कुछ भी शुभ–सुन्दर है उसका दान करना होता है।

प्रेम निर्मल चिन्मय तत्त्व है। इसे किसी वस्तु तथा व्यक्ति में आबद्ध रखना अज्ञानी का ही काम है।

प्रेम, प्रेमी, प्रेमास्पद में कल्पना, भेद भले ही हो पर स्वरूप में भेद नहीं है।

प्रेम उसी से करो जो उत्पत्ति विनाश से रहित हो, जिससे दूरी न हो और जड़ता न हो अर्थात् जो सत् हो, नित्य चैतन्य और आनन्द स्वरूप हो।

लोभ, मोह, ममता आदि दोषों का त्याग बिना कोई भी सच्चा प्रेमी नहीं होता।

अपने प्रेमपात्र की पूर्ति करने वाला ही सच्चा प्रेमी हो सकता है। जहाँ पूर्ण प्रेम होता है वहाँ प्रियतम के प्रति सेवा में कहीं श्रम तथा क्षति की प्रतीति नहीं होती।

चाह रहित होने पर और आत्मीयता से प्रेम की प्राप्ति होती है।

जहाँ प्रेम है वहीं जीवन है। प्रेम में भिन्नता भेद की प्रतीति नहीं होती। संत के प्रवचन में मैंने सुना है कि—जो प्रियतम के प्रति प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता उसके भीतर संसार नहीं रह जाता।

चाह रहित जीवन अपने लिए है, प्रीतिमय जीवन प्रियतम प्रभु के लिए है।

प्रेम की पूर्णता के लिए अहंता, ममता, राग, द्वेषादि दोषों का पूर्ण त्याग आवश्यक है।

राग तथा द्वेष ही त्याग और प्रेम को पूर्ण नहीं होने देता। त्याग और प्रेम के पूर्ण हुए बिना जीवन मेंपूर्णता नहीं प्राप्त होती।

जो कुछ अनित्य है सीमित है, उससे प्रीति हटते ही नित्य असीम से प्रेम का योग हो जाता हैअर्थात् प्रेम असीम हो जाता है।

प्रीति प्रियतम में रहती है, प्रियतम का निवास प्रीति में होता है। प्रीति जिससे होती है उसी को सुन्दर बना देती है।

प्रीति एक में दो का और दो में अभिन्नता एकता का विलक्षण दर्शन कराती है।

बिन गुन यौवन रूपधन बिन स्वारथ हित जान।

गन प्रियहिं सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान।।

हरि के सब आधीन हैं हरी प्रेम आधीन।

याही ते हरि आपुही याहि बड़प्पन दीन।।

प्रेम को निष्काम बनाने के लिए उस विवेक की आवश्यकता होती है जिससे स्वार्थ सुख की कामना का त्याग हो जाता है।

जिस किसी से भी विशेष प्रीति हो उसी के साथ प्रेमी अपने प्रेम को निष्काम बना सकता है। संसार में छोटी–छोटी वस्तुएं भी प्रेमपात्र के उपयोग में तभी आ पाती हैं जब त्याग एवं तप के द्वारा उनका जीवन सेवा के योग्य बन जाता है। एक प्रवचन में मैंने सुना– एक कंघी सेवा के योग्य तभी बन पाती है जब विशेष रूप से काटी जाती है, गढ़ी जाती है, बीच अनेकों शााखाओं में चीरी जाती है तभी बालों के सवाँरने के काम आती है।

उस सुरमे के सौभाग्य को देखिये! वह भी जब कूटा जाता है, पीसा जाता है तब आँखों में रमने योग्य बन पाता है।

उस मोती का अधिकार देखिये! वह भी गले का हार तब बन पाता है जब अपना हृदय बिंधवाने में सफल हो जाता है।

उस बाँसुरी के गौरव गुमान को देखिये! वह भी अधरों का स्पर्श तब कर पाती है जब अपने हृदय को पूर्णरूपेण रिक्त (खाली) कराने में किन्चित् बाधा नहीं आने देती; जो कभी बाँस की लकड़ी सारहीन दिखाई देती थी वही विधिवत् त्याग में सफल होकर ही बाँसुरी का रूप धारण कर लेती है।

साधारण से साधारण मिट्टी के उस प्याले की सार्थकता को देखिये! वह भी प्रिय मुखरबिन्दु तक तब पहुँच पाता है जब प्रथम मिट्टी के रूप में कुट कर पिस कर छन कर रौंदी जाकर चाक में चढ़ कर पुनः आग में तप कर सेवा के योग्य बन जाता है।

उस कमल की गुणगरिमा का निरीक्षण कीजिये! वह भी प्रिय हाथों में तभी शोभा पाती है जब कहीं से काटी जाकर सिर छटवा कर लिखने के योग्य बन जाती है।

उस वस्त्र के आधिपत्य को देखिए! वह भी प्रेमपात्र के शरीर का अधिकाधिक तभी संग कर पाता है। जब कपास के रूप में धुनका जाता है। फिर काता जाता है। सूत के रूप में अति निर्बल होते हुए भी संगठित होकर ताना बाना बनकर असंख्य ठोकरें सह कर वस्त्र के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार सेवा में उपयोग होने वाली किसी भी वस्तु को

देखिये! सभी को घोर त्याग का पाठ पूर्ण करना ही पड़ता है। अब वस्तु की भांति कोई व्यक्ति प्रेमपात्र के काम तभी आ सकता है जब त्याग करने में कहीं भी आलसी एवं प्रमादी कृपण दुर्बल न हो। जो त्याग से डरता है वह प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर पाता।

प्रेम सुराही सो पिये जो शीष पिया को देय।

लोभाी शीश न दे सके नाम प्रेम का लेय।।

लोभ, मोह, अभिमान, राग, द्वेष संसार में वस्तु व्यक्ति की दासता में बाँधता है। प्रेम, परमेश्वर का योगी बनाता है।

निष्काम होने पर प्रेम परमात्मा के प्रति मुड़ता है तब वही सद्‌गुण श्रद्धा के रूप में बदल कर जीवन को दिव्य बना देता है और वही भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।

मनुष्य जब तक अपना प्रेम विनाशी परिवर्तनशील देहादिक वस्तुओं में लगाये रहेगा तब तक अपने लिये तथा अन्य लोगों के लिये बन्धनों, दुःखों की वृद्धि करता रहेगा। पूर्ण विराग होने पर ही मानव का प्रेम अखण्ड निर्गुण अनन्त जीवन के प्रति मुड़ता है। तभी निर्विकार स्थिति आती है, तभी पूर्ण आत्मसंयम सिद्ध होता है।

प्रेम से भाव और विचार में एकता समता आती है। मन और हृदय को बन्धनों से विकारों से मुक्त करना ही परमार्थ–सि;द्धि का द्वार खोलता है, जो कि प्रेम के द्वारा ही सम्भव है।

पूजा, पाठ, जप, तप, तीर्थयात्रा, कथा उपदेश सहस्त्रों नर–नारी करते हैं परन्तु परस्पर विकास रहित प्रेम का व्स्यवहार करना कोई बिरले ही जानते हैं।

प्रेम और मोह में उतना ही अन्तर है जितना कंचन और काँच में है। जो प्रेम करता है वही प्रेम पाने योग्य हो जाता है।

यदि कोई प्रेम चाहते हुए किसी के द्वारा नहीं पाता तो अपनी ही त्रुटि समझनी चाहिये।

प्रेमी वही है जो अपनी प्रसन्नता प्रेमपात्र की प्रसन्नता में लीन कर देता है। प्रेम में सभी सद्‌गुण पूर्णतया आ जाते हैं।

प्रेम का प्रदर्शन प्रेम की कमी में ही किया जाता है। प्रेम की पूर्णता किसी यथार्थ बुद्धिमान ज्ञानी में ही होती है।

मोह एक भयानक मानसिक रोग है, प्रेम उस रोग–निवत्ति के पश्चात् की अवस्था है।

प्रेम की बाढ़ में प्रेम बिना डूबे ही बहता जाता है और प्रेम के सागर में पहुँच कर भी प्रेम की प्यास नहीं बुझा पाता। प्रेम के मध्य में कभी कठोरता, निर्दयता, विषमता का प्रवेश नहीं हो पाता। सभी के प्रति प्रेम भाव द्वारा ही मानवता में दिव्यता आती है। एक सन्त से मैंने सुना था–कि जगत् उसे ही कहते हैं जिसके पास कुछ भी नहीं है, परमात्मा वहीं है जिसके पास सब कुछ है, प्रेमी वही है, जिसे जगत् से भी कुछ नहीं चाहिये और परमात्मा से भी कुछ नहीं चाहिये और कुछ नहीं चाहिये का फल भी जिस प्रेमी को नहीं चाहिये उसी का प्रवेश प्रेम के साम्राज्य में पूर्ण रूपेण होता है।

अपना सर्वस्व दे देने पर प्रेमी में पूर्ण उदारता आ जाती है दरिद्रता मिट जाती है और अपने को दे देने पर प्रियतम मिल जाते हैं अर्थात् अपने हो जाते हैं।

सच्चे प्रेमी वही हैं जिनका मन प्रियतममय हो जाता है। परमभक्ता प्रेमाचार्य गोपिकाओं की मनःस्थिति का चित्र इस गीत में कितना सुन्दर दीख रहा है :–

जिस देखूं तित श्याम मयी है।

श्यामकुंज बन यमुनाश्यामा श्याम गगनघन घटा छई है।।

सब रंगन में श्याम भी है लोग कहत यह बात नहीं है।

मैं बौरी या लोगन की ही श्याम पुतरिया बदल गई है।।

चन्द्रसार रविसार श्याम है मृगमद श्याम काम विजयी है।

नीलकंठ को कंठ श्याम है मनो श्यामता बेल बई है।।

श्रुति को अक्षर श्यामदेखियत दीपसिखा पर श्यामतई है।

नर देवन की कौन कथा है अलखब्रह्म छवि श्याम मई है।।

X X X X X X

ज्ञानोपदेश ऊधव प्रेममई गोपिकाओं की तन्मयता देखकर चकित रह जाते हैं।

कवि ने उनकी अनन्यता का कितना सुन्दर चित्र खींचा है!

श्याम तन श्याम मन श्याम ही हमारो धन,

आठो याम ऊधो हमें श्याम ही सों काम है।

श्याम हिये श्याम जिये श्याम बिनु नाहिं तिये,

आंधे की सी लाकरी अधार श्याम नाम है।।

श्याम गति श्याम मति श्याम ही है प्रानपति,

श्याम सुखदाई सों भलाई शोभाधाम है।

ऊधो म भये बौरे पाती लेके आये दौरे,

योग कहां राखैं यहँ रोम रोम श्याम है।

जिससे सम्बन्ध होता है उसी की स्मृति होती है, जिसकी स्मृति उसी से प्रीति दृढ़ होती है, जिससे प्रीति होती है उसी की प्राप्ति होती है। एक सन्त के प्रवचन में मैंने सुना था कि भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा का नाम राधा है। श्री राधा रानी अतृप्ति हैं तो श्याम सुन्दर रस हैं, अतृप्ति कभी मिटेगी नहीं रस कभी घटेगा नहीं।

भोग और मोक्ष की आकांक्षा से रहित होने पर ही कोई गोपी भाव प्राप्त कर सकता है। केवल प्रेम धातु पर ही कोई गोपी भाव प्राप्त कर सकता है। केवल प्रेम धातु से जिनका निर्माण है उन्हीं को गोपी कहते हैं।

अपने प्रमास्पद प्रभु का नित नव रस प्रदान करना ही गोपी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य सिद्ध होता है। मिलन में वियोग, वियोग में मिलन का अनुभव करना ही गोपी का स्वभाव है। प्रियतम की प्रसन्नता ही गोपी की साधना है। प्रियतम का मन ही गोपी का मन है। गोपी की इन्द्रियाँ प्रियतम की प्रीतिमय हो जाती हैं। अपने लिए कोई कामना शेष नहीं रहती।

असंगतापूर्वक काम का अन्त कर देने पर अपने में गोपी तत्त्व का अनुभव होता है।

वासनायुक्त प्राणी में पवित्र प्रीति जाग्रत् नहीं होती किसी वस्तु को अपना न मानने से संयोग की दासता मिट जाती है आस्तिक प्रेमी ही कुछ अपना नहीं मानता।

गोपी प्रेम में वस्तु से मोह ममता को स्थान नहीं मिलता भगवान् की लीला में जो प्रवृत्तियां हैं वही गोपीजन हैं। मूर्तिमान् भाव ही एक गोपी है।

प्रेमभाव की पूर्णता में ही राधारानी प्रेममयी हैं। प्रेम, आनन्द से भिन्न नहीं रहता।

दोष देखकर श्रद्धाभक्ति घट जाती है, परन्तु प्रेम में दोष का प्रभाव ही नहीं पड़ता। प्रेम टूट कर नहीं होता।

छिनहि चढ़ै छिन ऊतरे सो तो प्रेम न होय।

अघट प्रेम पिंजर बसे प्रेम कहावे सोय।।

योग के बिना सामर्थ्य, ज्ञान के बिना जीवन और प्रेम के बिना आनन्द की सिद्धि नहीं होती।

आसक्ति परपदार्थ से और प्रीति; रस के अभाव में विकरों का जन्म होता है।

जो नित्य प्राप्त है उससे प्रीति करों; जिससे संयोग हुआ है उसकी सेवा करों। प्रीति के निर्मल होने पर प्रीतम से अभिन्नता प्राप्त होगी। प्रीति का दुरूपयोग विनाश का पथ बनाता है।

उत्तम प्रेमी वही हो सकता है जो सभी के मध्य में उत्त्म मनुष्य हो। प्रेमी मानव में विकारों का प्रवेश नहीं हो पाता।

पूर्ण अपनत्व–आत्मीयता में ही प्रियता होती है, प्रियता में ही भक्तिरस का आस्वादन होता है।

पूर्ण आत्मीयता के लिए विश्वास दृढ़ होना चाहिये, विश्वास के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है, श्रद्धा के लिए आस्था होना चाहिये, आस्था के लिये प्रभु की पूर्णता का ज्ञान होना अनिवार्य है ऐसा मैंने संत से सुना था।

प्रेम का आरम्भ कहीं से भी हो, वह व्यापक होता जाता है और प्रेम बढ़ते–बढ़ते जाति देश विश्व की सीमा को पार कर विश्वनाथ तक पहुँच जाता है।

प्रीति उसी को प्राप्त होती है जो अपने प्रियतम को सर्वस्व समर्पण करने में सदा तत्पर रहता है।

सुखापभोगी की ममता अनेकों वस्तुओं, व्यक्तियों में होती है। प्रेमी की प्रीति एक में होती है।

असत् अनित्य का चिन्तन मात्र सत् से नित्य से अर्थात् परम प्रभु से विमुख बना देता है। नित्य विद्यमान सत् के चिन्तन मात्र से योग हो जाता है।

जिस अनित्य सुख के चिन्तन हो से ही सत्‌चित् आनन्द की विस्मृति हो जाती है उस सुख के भोग से जीव की जो भी दुर्दशा हो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

जो प्रेमी अपने प्रेमपात्र की, जो ईश्वरवादी अपने भगवान् की किसी कामना पूर्ति के लिए स्तुति करता है वह प्रेमपात्र का अथवा भगवान् का प्रेमी नहीं है, वह उनसे मिलने वाली सुखद वस्तु का प्रेमी है।

जिसे अपने प्रियतम प्रभु का प्रेम प्राप्त करना हो उसे प्रभु के नाते सेवाभाव से ही सब कर्म करना चाहिये।

प्रियतम प्रभु को अपना मानने से कामना पूर्ति का प्रलोभन नहीं रह जाता। कामना पूर्ति का प्रलोभन ही प्राणी को वस्तु व्यक्ति की दासता में बाँध देता है। यह बन्धन प्रियतम प्रभु के प्रति आत्मीयता से मिट जाता है।

यदि अपने प्रभु ही सर्वोपरि प्रिय लगेंगे तो उनमें मन लगाये बिना लग जायेगा और उनसे जो कुछ भिन्न होगा उससे हटाये बिना ही हट जायेगा।

इश्क पै जोर नहीं यह वो आतिश गालिब।

जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे।।

प्रेमी कवि का कथन है हक प्रेम में अपना बल नहीं चलता, प्रेम एक ऐसी अग्नि है जो किसी के प्रयत्न से लगाये लगती नहीं और लग गई तो बुझाये भी न बुझती।

कामना युक्त व्यक्ति से प्रेम की आशा करना भूल है। जिस मन से कामना निकल जाती है उसी मन में प्रियतम प्रभु निवास करते हैं; उन्हें वहीं विश्राम मिलता है।

प्रीति को किसी वस्तु में लगा देना मोह युक्त विकारी होना है। ज्यों–ज्यों प्रीति सीमित संकुचित होती जाती है त्यों–त्यों रूके हुए जल की भाँति विकारी होती जाती है।

प्रभु की नित्य विद्यमान सत्ता को स्वीकार करने से नित्य सम्बन्ध होता है, सम्बन्ध से आत्मीयता, आत्मीयता से प्रेम होता है। जब कुछ भी न रहेगा तब केवल प्रेम रहेगा, प्रभु रहेगा। एक प्रेमी ने बहुत सुन्दर बात समझाई–वह यही कि प्रेमपात्र से मिलन का आशय है दो का एक होना और प्रेम का अर्थ है एक का दो होना। प्रेमपात्र की प्रतीक्षा ही चिन्तन है, प्रतीक्षा की प्रगाढ़ता ही ध्यान है।

अनित्य वस्तुओं के प्रति आत्मीयता ही ममता का रूप धारण कर लेता है। ममता अपने सुख के लिए होती है। नित्य विद्यमान सत् के प्रति आत्मीयता प्रेम का रूप ले लेती है। प्रेम प्रमास्पद को ही रस देते रहने के लिए होता है।

जो अपने से कभी दूर नहीं होता उसी से पूर्ण प्रेम हो सकता है। सत्य परमात्मा ही अपने से कभी भिन्न नहीं होता।

प्रायः बिना विचार किए ही हम किसी वस्तु को या व्यक्ति को सुन्दर मान कर आकर्षित होते हैं, उसे प्रीतिपात्र बना लेते हैं, वह सदैव श्रेष्ठ सत्य नहीं होता किन्तु जो सर्वोपरि श्रेष्ठ है, सत्य है वह सदैव सुन्दर ही रहता है उसी से प्रीति करनी चाहिए।

जो मनुष्य परमेश्वर से एवं सद्‌गुणों से प्रेम करते हुए प्रसन्न रहता है वह पराश्रित होने पर भी कभी दीन दुखी नहीं होगा।

प्रायः अविवेकवश हम उनसे प्रेम करते हैं जो हमारी प्रशंसा करते हैं हम उनसे प्रेम नहीं करते जिनकी हम प्रशंसा करते हैं हम उन्हें अपना मानते हैं जो हमसे आशा रखते हुए प्रीति करते हैं किन्तु उन्हें नहीं जानते जो सब कुछ देते हुये हमसे कुछ भी नहीं चाहते।

विवेकी मानव जिस किसी के प्रति अपने प्रेम को लगा हुआ पाते हैं वहीं से प्रेम को कामना रहित बनाने के लिये सावधान रहने लगते हैं, जब प्रेम निष्काम हो जाता है तब उसी प्रेम के द्वारा सत्य परमात्मा के भक्त हो जाते हैं जिनसे कि प्रेम प्राप्त हुआ था। प्रेम प्रभु प्रदत्त निधि है।

बीव दूध में रमि रहा व्यापक सबही ठौर।

दादू बकता बहुत हैं मथि काढ़ैं ते और।।

एक प्रेमी ने बताया हे कि पूर्ण प्रेम की अनुभूति में ही ईश्वर की अनुभूति होती है। प्रेम की पूर्णता ही व्यापक परमात्मा का दर्शन है।

———————

श्रद्धा और विश्वास के प्रति विद्वानों की धारणा

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

रामचरितमानस में श्रद्धा की चिन्मयमूर्ति यदि पार्वतीजी हैं तो भगवान् शंकर को विश्वास की चिन्मयमूर्ति सिद्ध किया गया है।

यथार्थ को जानना ज्ञान है ओर उस ज्ञान में स्थित होना विश्वास है पूर्णतया ज्ञान हो जाने पर ही दृढ़ विश्वास होता है।

श्रद्धा और विश्वास का योग शिव–शक्ति का योग है।

बिना विश्वास भक्ति नहिं तिहि बिनु द्रवहिं न राम।

राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम।।

बिना देखे ही जिसे माना जाता है उसे विश्वास कहते हैं। परमात्मा का ज्ञान होने पर विश्वास होता है।

सत्य परमात्मा है सर्वत्र है, सर्वदा है, उसका विधान मंगलमय है उसकी कृपा अहेतु की है–इन बातों को सुन समझ कर विश्वास करना ही चाहिए।

प्रीति विश्वास को, विश्वास प्रीति को दृढ़ करते हैं। एक में विश्वास, एक से प्रीति दृढ़ होने पर हृदय शुद्ध होता है। जिसका जिस पर विश्वास हो जाता है उसी से सम्बन्ध हो जाता है, उसी से प्रीति होती है। अपने आप में विश्वास को आत्मरति और देहादिक वस्तुओं के प्रति विश्वास की आसक्ति कहते हैं।

विश्वासी व्यक्ति दुखों के मध्य कहीं पराजय स्वीकार नहीं करता।

विश्वास करने योग्य वही है जिसमें दोषों का दर्शन नहीं हो। विश्वास जड़ पर नहीं करना है, विनाशी पर नहीं करना है, सच्चिदानन्द स्वरूप अविनाशी परमात्मा में ही करना है। संत ने समझाया कि अविवेक वश प्रायः देहादिक वस्तुओ के विश्वास ने ही हमें भगवद् विश्वास से विमुख बना दिया है।

एक विद्वान के द्वारा मैंने सुना था कि—विश्वास मानव की कामनाओं का पूरक भी हो सकता है और विरोधी भी। विश्वास को देखने वाला सर्वव्यापक परमात्मा है। विश्वास शिवस्वरूप है। जड़ नहीं है।

जो विश्वास के द्वारा अपने को संचालित करता है वह भक्त है। विश्वास में अमृतत्व भी है और विषपूर्ण भुजंगों का सा भय भी है।

यद्यपि विश्वास के बिना श्रद्धा सम्भव नहीं परन्तु श्रद्धा प्रथम है विश्वास पीछे है।

मानव केवल अपने विश्वास साहस आस्था के बल पर परमात्मा नारायण को पा सकता है। विश्वास पात्र वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं हो सकता। जिससे सभी को सत्ता प्रकाश मिलता है वही इन्द्रिय आदि का विषय नहीं हो सकता। उसी के नित्य विद्यमान होने का विश्वास दृढ़ रखना है।

सृष्टि में जो कुछ दीख रहा है वह हमें प्रेरणा देता है कि जो कुछ नहीं दीखता उसके लिए सृष्टि के रचयिता पर विश्वास किया जाय। एक संत से मैंने सुना था।

विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति होती है और विचार द्वारा असक्तियों का नाश होता है।

विश्वास से सम्बन्ध, सम्बन्ध से आत्मीयता एवं आत्मीयता से प्रीति पूर्ण होती है। सुख की आसक्तिवश ही भोगी के जीवन में अनेक विश्वास हैं, अनेकों से सम्बन्ध हैं, अनेकों का चिन्तन होता रहता है।

सत् में, प्रभु में आस्था करने से असत् का, अनेकों का चिन्तन छूटता है। अनेकों का चिन्तन छूटने पर एक प्रभु का चिन्तन होने लगता है।

परमेश्वर पर बिना देखे ही विश्वास करना चाहिये। जब बिना देखे संसार में सभी मनुष्य पिता पर विश्वास करते हैं तब बिना देखे परमेश्वर पर विश्वास क्यों न किया जाये?

रन बन व्याधि विपत्ति में वृथा डरो जनि कोय।

जो रक्षक जननी जठर सो हरि गयो न सोय।।

अमरबेल बिनु मूल की प्रतिपालत है ताहि।

रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि खोजत फिरिये काहि।।

जाके मन विश्वास है सदा गुरू है संग।

कोटि काल झकझोरई तऊ न हो चित् भंग।।

————

सन्त की दृष्टि में निराशा का महत्व

तब लौं योगी जगत गुरू जब लौं रहे निराश।

जब आशा पीछे लगी जग गुरू योगी दास।।

अनित्य जीवन से तथा संसार से निराशा होने पर तप त्याग प्रयाश्चित पूर्ण होता है, यह विवेकी मानव के लिये ही सम्भव है। मैंने संत के प्रवचन में सुना था कि—आशा का जन्म

ममता से होता है। सुख की आशा ही अधिकार की लालसा में आबद्ध करती है।

किसी से आशा रखने वाला पराधीन रहता है बन्धन में पड़ता है। जो संसार से कुछ चाहता है वही आशा करता है। संसार को चाहने वाला संसार को पकड़ नहीं पाता। जो संसार से निराश होकर विमुख हो जाता है उसे संसार पकड़ नहीं पातां

संसार से निराशा होने पर कुछ न चाहने पर तुच्छ ओर महान् नीच ऊँच निर्बल सबल सब समान हो जाते हैं।

संत का आदेश है जो वस्तु, जो व्यक्ति जो अधिकार सदा एकरस नहीं रहते उनसे एकरस सदा की प्राप्ति हो ही नहीं सकती; अतः कहीं आशा न रखो।

अपने से भिन्न में यदि आशा न रहे तो जीवन में निराशा के लिए, दीनता के लिये, अभिमान के लिये, असफलता के लिये कोई स्थान नहीं है। जीवन नित्य पूर्ण है।

मनुष्य जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, अपने से अधिक जिसका मूल्य बढ़ा देता है उसी से सुख की आशा करता है, उसी से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस प्रकार आशा एवं सम्बन्ध के कारण ही अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है।

विवेकी उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, उसी का मूल्य बढ़ाते हैं जिसकी उत्पत्ति नहीं होती विनाश नहीं होता, उसी अविनाशी से पूर्णता की आशा करते हैं और विनाशी जगत से निराश हो जाते हैं।

सत्य परमात्मा से निराश होना, असत् दृश्य—जगत से आशा करना प्रमाद है।

किसी कवि ने स्वार्थी संसार का सुन्दर चित्र लिया है :—

कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन।
किन्तु रोता कौन है तेरे लिए दानी सुमन।।
मत व्यथित हो फूल किसको सुख दिया संसार ने
स्वार्थमय सबको बनाया है यहाँ करतान ने।।

जो परमार्थ के प्रेमी हों उन्हें बीती हुई घटनाओं का मनन, वर्तमान का तथा मिली हुई शक्ति सम्पत्ति का दुरूपयोग और भविष्य की आशा को छोड़ देना चाहिए।

वर्तमान को लेकर साधनपथ में भक्ति–मुक्ति एवं शान्ति की अभिलाषा रख कर कहीं भी निराशा नहीं होना चाहिए।

एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र को शरीर को छोड़ते समय धर्मात्मा राजा को सौंप दिया और कह दिया कि इसे ऐसी विद्या पढ़ा दो जिसके द्वारा इतना धनी बन जाय कि किसी के आगे दीन होकर न रहे। राजा ने ब्राह्मण बालक को काशी में पढ़ने की व्यवस्था कर दी। कुछ वर्षों में ब्राह्मण शास्त्रों को पढ़ कर अपने नगर में लौट आया और पाण्डित्य का अभिमान लेकर राजा साहब से मिलने गया बहुत कुछ आशाओं को लेकर ब्राह्मण ने अपनी विद्वता का प्रदर्शन किया परन्तु राजा ने असन्तोष प्रगट किया और पुनः गीता का अध्ययन करने के लिये समय दिया। ब्राह्मण गीता कण्ठस्थ करके राजा साहब से मिलने आया और कह दिया चाहे कहीं से सीधा उलटा अन्वय अर्थ सहित गीता सुन ली जाय। राजा साहब को अब भी पूर्ववत् असन्तोष रहा। तब ब्राह्मण को बहुत दुःख हुआ। अन्त में एक विरक्त महात्मा के समीप जाकर अपने दुःख की बात कह सुनाई साथ ही राजा को विद्वानों का अनादर करने वाला मूर्ख सिद्ध करना चाहा। तब महात्मा ने समझाया कि इतना पढ़ने के पश्चात् तुम विद्या द्वारा उस सत्य को नहीं

समझ सके, उस कर्तव्य का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके जिसके प्रकाश में संसार से निराश होकर सन्तोष धारण कर विद्या का सदुपयोग करते। संत की बातें ब्राह्मण की समझ में आ गईं। उसी क्षण उसने सन्तोष धारण करके घर लौट कर अपने धर्म के अनुसार साधन श्रम करने लगा। कुछ दिन बीत जाने पर राजा ने ब्राह्मण को बुलाया। किन्तु ब्राह्मण के मन में अब ऐसी कोई चाह नहीं रह गई थी जो राजा के द्वारा पूरी हो सकती थी। इसीलिये ब्राह्मण ने जाना अस्वीकार कर दिया। राजा साहब के मन में स्वयं चल कर ब्राह्मण के दर्शन की इच्छा हुई और समयानुसार ब्राह्मण की कुटी में मिलने आये। ब्राह्मण ने आदरपूर्वक राजा को आर्शीवाद दिया। किन्तु राजा साहब जो समपत्ति देना चाहते थे उसे स्वीकार नहीं किया। तब राजा ने कहा कि अब तुम्हें वह विद्या प्राप्त हुई है जिस विद्या के बल से तुम कहीं दीन–हीन बनकर दुखी न हो सकोगे। तुम्हें वह सन्तोष धन प्राप्त हुआ जिसके सामने संसार के सब धन धूल के समान तुच्छ है। किसी विद्वान् ने सावधान किया है :–

कहाँ दौड़ रहा दृग मूँद अरे,
    रस बूँद की चाह में प्यासा यहां।।
दम घुटता एक ही बूँद पिये,
    चला खेलने प्राण का पांसा यहां।
भरा कंचन का घड़ा है विष से
    खड़ा तू लिए कैसी दुराशा यहां।
यह जिन्दगी ही मिट जाती,
    नहीं बुझ पाती किसी की पिपासा यहां।।

हम जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं उनसे नित्य नहीं रहेगा। हम जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं वे स्वयं ही सदा एक समान सुखी नहीं रहते तब हमें वे कहाँ तक सुख दे सकेंगे।

हम जिस परिस्थिकति को सुखद मानते हैं उसमें किसी न किसी प्रकार का अभाव दिखाई देता है।

जिस अवस्था में सुख की कल्पना करते हैं वह स्वयं सदा एक रस नहीं है, परिवर्तन हो रहा है। इसीलिए विवेकी जन सबसे निराश होकर उस सत्य परमात्मा का आश्रय लेते हैं जिससे नित्य सम्बन्ध है जो एक रस नित्य है जिसमें पूर्णता है जिसमें परिवर्तन नहीं होता जो अविनाशी है।

माया छाया एक सी सन्तन दई बताय।

भक्तों के पीछे फिरे मँगतों से भगि जाय।।

जो तुमसे कुछ आशा नहीं रखता वही तुम्हारा हो सकता है। जिससे तुम कुछ नहीं चाहते उसी के तुम हो सकते हो।

सन्त का आदेश है कि अनुकूलता की आशा न करो, प्रतिकूलता से भय न करो। जो परिस्थिति सामने है उसका उदार बनकर और त्यागी होकर सदुपयोग करो। रागरहित होने पर अनुकूलता का लालच, प्रतिकूलता का भय नहीं रहता।

———————

प्रकृति के तीन गुण

जिस तत्त्व का अज्ञान होगा उसी से दुःख होगा, जिस तव का जितना ज्ञान होगा उतना दुःख–निवृत्ति होगी। सारे तत्वों के यथार्थ ज्ञान से दुःखों की जड़ें कट सकती है।

ज्ञान द्वारा मुक्त होने पर, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सम्बन्ध तथा संस्कारों का अन्त हो जाता है।

जितना वृत्तियाँ बढ़ती जाती हैं उतनी ही रज–तम की मात्रा बढ़ती जाती है, जितनी वृत्तियों का निरोध होता जायगा उतना ही सत्त्व बढ़ता जायगा। जब कोई वृत्ति शेष न रहे तब शुद्ध परमात्मा तत्व शेष रह जाता है। परमात्मा तत्व की प्राप्ति के लिए वृत्तियों का निरोध करना योग–समाधि है।

वृत्तियों के निरोध करने के लिये चित्त को एक विशेष ध्येय में लक्ष्य में ठहराना ही योगाभ्यास है अर्थात् धारणा है

चित्त की वृत्तियों के अनुसार पुरूष का स्वरूप बन जाता है। सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी–तीन प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं।

सतोगुण में ज्ञान–प्रकाश की प्रधानता है, रजोगुण में क्रिया की और तमोगुण में जड़ता की स्थिति की प्रधानता है।

सतोगुण के लक्षण

प्रकाश ज्ञान, सुख शान्ति, शम, दम, तितिक्षा, तप, सत्य, दया, स्मृति, तुष्टि, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा लज्जा एवं आत्म–सन्तोष।

रजोगुण के लक्षण

राग, तृष्णा, कर्मदुःख काम, इच्छा, मद, तृष्णा, स्तम्भ, इन्द्रियसुख, मदोत्साह, यश, प्रीति, हास्य, वीर्य, बल एवं उद्यम तथा आर्शीवाद देना।

तमोगुण के लक्षण

अज्ञान, मोह, प्रमाद, निद्रा, क्रोध, लोभ, अनृत, हिंसा, याचना, दम्भ, थकान, कलिक्लेश, शोक, मोह, विषाद, दुःख, निन्दा, आशा, भय एवं आलस्य।

तम का रंग काला बताया है। तमोगुणी व्यक्ति

तीव्र क्रोधी, द्वेषी, हिंसक, निर्दय, लड़ाकू, धर्मद्रोही होता है।

तमोगुणी की उन्नति होने पर रंग नीला हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मन्दबुद्धि, विषय–लोलुप, मानी, मायावी, आलसी, छली, तीव्र लोभी, दूसरों को फँसाने में कुशल होता है।

रजोगुणी प्रकृति का रंग लाल कहा जाता है। लाल रंग की शक्ति प्राणी परनिन्दक, शोकग्रस्त, भयातुर, अपमानकर्ता, अपनी प्रशंसा करने वाला, कर्तव्य विमूढ़ होता है।

रजोगुणी की उन्नति होने पर लाल रंग की शक्ति स्वच्छ होकर पीले रंग की दीखने लगती है। तब वही प्राणी कर्तव्य का ज्ञाता, समवर्ती भाव वाला, दयावान्, दानी और विनयी होता है।

सतोगुणी प्रकृति का रंग पद्म की भाँति देखा जाता है। ऐसा मानव त्यागी, भद्र, क्षमाशील, साधु, भक्त, श्रद्धालु होता है।

सतोगुणी मानव की उन्नति होने पर पद्म रंग श्वेत रूप में बदल जाता है। और वह पुरूष पूर्ण निष्पक्ष, भोगों से विरक्त रागद्वेष से रहित होता है। उसकी बुद्धि समस्थित रहती है। सदा शान्त अपने आप में सन्तुष्ट रहता है।

त्रिगुण से ऊपर जो कुछ स्वरूप है उसका वर्णन करने का तथा समझने का अधिकार सर्वसाधारण को सुलभ नहीं है।

साधक में जिस गुण की प्रधानता होगी उसी गुण की तम प्रधान या रजप्रधान अथवा सतोगुण प्रधान साधना के प्रति उसका आकर्षण होगां जिस प्रकार तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी साधक और साधना में भेद हैं उसी प्रकार पथप्रदर्शक गुरू भी तीन प्रकार के मिलते हैं। अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार साधक गुझ को और उसी प्रकार की साधना को चुन लेता है, तदनुसार सि0 भी प्राप्त करता है।

किसी प्रकार के ध्यान में साधक को जो सफलता मिलती है वह बाहर बिखरी हुई वृत्तियों के निरोध से ही मिलती है। बिखरी हुई दृश्याकार, विषयाकर, वृत्तियाँ सिमट कर ध्यायाकार बन जाती हैं। चेतनाशक्ति बहिर्मुखी होकर विषयवृत्ति बन जाती है, वही विषयवृत्ति अन्तर्मुखी होकर शक्ति बन जाती है। उस संयमित चेतनाशक्ति को ही साधक ध्येय के रूप में प्रकाशित देखता है।

किसी की साधना क्रिया प्रधान होती है, किाी की भाव–प्रधान और किसी की विचारप्रधान होती है। अधिकांश में साधक जो साधन स्वीकार कर लेते हैं उसी के प्रति मोही बन कर पक्षपाती हो जाते हैं। निष्पक्ष निर्णय कोई बिरले ही विवेकी कर पाते हैं।

———–

ध्यान से मोक्ष

अध्ययन एवं सन्तों के संग से यह ज्ञात हो सक—आत्मा प्रत्येक वस्तु का आधार है, वस्तु का सत्य है। अन्तरतम स्वरूप है। आत्मा हमारी सत्ता का एकमात्र आश्रय है और परमात्मा रूप से हमारी साधना का लक्ष्य है।

इच्छा, ज्ञान, क्रिया—यही आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं।

इच्छाशक्ति भेगसुखों के पीछे लगी हुई हो, ज्ञानशक्ति उन्हीं भोगसुख देने वाली वस्तुओं के प्राप्त करने में लगी हुई हो और क्रियाशक्ति भोगसुखों के आस्वादन में फँसी हुई हो तब न तो योग की अभिलाषा प्रबल होगी, न तत्वबोध हो सकेगा, न सेवा ही हो सकेगी।

जब इच्छाशक्ति भोग वस्तुओं की नहीं रहेगी तब यही सत्य की उत्कृष्ट अभिलाषा बन जायेगी। ज्ञानशक्ति जब सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति से हट जायगी तब इसी ज्ञानशक्ति से तत्व का बोध हो जायगा। क्रियाशक्ति जब अपने सुखस्वार्थ की सिद्धि से बचा ली जायगी तब यही सेवा रूप धारण कर लेगीं

असंयम से, वासना से, मन वचन कर्म क्रिया से ही जीवात्मा का सम्बन्ध होता है।

स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से, शारीरिक मानसिक प्रतिकूलतओं को सहन करने से अथवा अन्तर बाहर तप से, परमात्मा के ध्यान से कर्मबन्धन रूकता भी है कटता भी है।

मोक्ष का साधन ज्ञानपूर्वक ध्यान है और ध्यान का साधन तप, सत् चर्चा का श्रवण तथा व्रत संयम है एकाग्रता है।

तप वही उत्तम है जिससे दोषी दुर्बलताओं की निवृत्ति हो, व्रत वही उत्तम है जिससे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो, संयम वही उत्तम हे जिससे मन कहीं भी बुद्धि–विवेक के प्रतिकूल न हो।

ध्यान के अनुरूप ही दुर्गति, सद्‌गति, परमगति प्राप्त होती है। जो व्यक्ति अनुकूल सुखद के वियोग का, अनिष्ठ दुखद के संयपोग का, पीड़ा कष्ट की निवृत्ति का, आगे आने वाले भोग का ध्यान करता रहता है वह नीची योनियों में जाता है। जो व्यक्ति हिंसा का, चोरी का, झूठ का, भोगों से मिलने वाले सुख का ध्यान करता रहता है वह नरक में जाता है। जो व्यक्ति वस्तु के तत्व का, कर्म के स्वरूप का, जगत् के स्वरूप का, जन्ममरण की निवृत्ति का चिन्तन ध्यान करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है।

जो पुरूष, आत्मा का, मन्त्राक्षरों का, भगवद्विग्रह का तथा अरूप का अर्थात् स्वरूप का ध्यान करता है वही मोक्ष प्राप्त करता है।

ज्ञान ध्यान के द्वारा जितने अंश से त्याग, तप, शान्ति होगी उतने ही अंश में बन्धनों से मुक्ति मिलती जाती है।

ध्यानी के जीवन में जब इच्छा, वासना, आसक्ति का अभाव होता है तब कर्म बन्धनकारी नहीं होते।

जीवात्मा के ऊपर पाँच आवरण चढ़े हुए हैं इसीलिए जीवात्मा अपने भीतरी रूप को नहीं देख पाता।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय पाँच सीमाओं को पार करने पर सत्यात्मा का बोध होता है।

प्रायः स्थल शरीररूपी आवरण को ही देखकर प्राणी मुग्ध होते हैं चाहे भीतरी सूक्ष्म शरीररूपी आवरण कितना ही मैला

क्यों न हो। उसकी स्वच्छता का पक्ष बिरले ही विवेकी लेते हैं अधिकतर ऊपर का खेल सभी साफ सुथरा दिखाना चाहते हैं।

ध्यानी ही अपने निर्दोष नग्न स्वरूप को देख पाता है। ध्यानी ही अनुभव करता है कि मैं शव नहीं हूँ शिवमय हूँ।

साधक यथार्थ ध्यान द्वारा स्वाधीनता पूर्वक अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से तन्मयता प्राप्त कर सकता है क्योंकि उससे उसकी जातीय एकता है।

जब अपने ध्येय वस्तु के अतिरिक्त अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का भी स्मरण नहीं रहता प्रियतम स्वरूप में ही तन्मयता हो जाती है यही ध्यान कहा गया है।

सांसारिक चिन्ताओं, वासनाओं से सनी हुई बुद्धि जब ध्यानयुक्त न हो तब ज्ञान का आश्रय लेकर जगत्–दृश्य को विचार–दृष्टि से बारबार विनाशी परिवर्तनशील समझते रहना आवश्यक होता है।

जब बुद्धि सत्य में व्यवस्थित होती है तब उसे ही ज्ञान कहा जाता है और जब मन सत्य में स्थिर हो जाता है तब ध्यान कहा जाता है। व्यवस्थित बुद्धि वाले से वह ध्याननिष्ठ श्रेष्ठ है जिसका मन सत्य में स्थिर हो चुका है।

यह योगी गुरू का आदेश है कि जहाँ भी मन जाय वहाँ से लौटकर शरीर के भीतर आज्ञाचक्र में स्थिर करो और दृश्य का स्मरण आते ही सोचो कि 'सब क्षणिक है, नश्वर है, कुछ भी एकरस नित्य साथ नहीं रहेगा, सभी कुछ त्यागने योग्य है क्योंकि अन्त में सब कुछ दुखद ही है।'

ध्यानाभ्यास में स्थिर आसन सर्वप्रथम आवश्यक है। आध घण्टे से बढ़ाते–बढ़ाते तीन घण्टे तक आसन स्थिर होना चाहिए, बीच में किंचित भी हिलना नहीं चाहिये। देह से अपने को भिन्न चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अनुभव करना चाहिए। देह को किसी स्थान में आसन में बिठाकर अपने को देह के भीतर ज्ञानरूप में स्थिर देखना चाहिए। सर्वप्रथम भीतर जहाँ अँधेरा प्रतीत होता है वहीं प्रकाश की प्रतीक्षा तीव्र चाह के साथ करनी चाहिए।

ध्यान में प्रकाश की प्रतीक्षा में जितनी एकाग्रता बढ़ेगी उतनी ही शीघ्रता से प्रकाश प्रगट ओता हे। उसी प्रकाश में कायालोक का दर्शन होता है, उसी प्रकाश में सूक्ष्म शरीर कारण शरीर अर्थात् अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश का दर्शन होता है। इस दर्शन की दृष्टि को दित्य दृष्टि कहते हैं जो कि तृतीय नेत्र द्वारा प्राप्त होती है, इसी को शिव नेत्र कहते हैं। ध्यानाभ्यासी योगीजनों के वर्णन में प्रायः एकता नहीं मिलती, जो जहां तक पहुँचता है उसी को पूर्ण सिद्धि मान लेता है। कोई साधक साकार ध्यान को श्रेष्ठ बताते हैं, कोई निर्विकल्प समाधि की महिमा गाते हैं, कोई घण्टों और कई दिनों तक शून्य समाधि की ही प्रशंसा करते हैं, कोई महात्मा नादानुसन्धान को सुलभ सिद्ध करते हैं, कोई योगी इन सब साधनों को निम्न कोटि में रखते हुए ज्योति ध्यान को उत्तम कहते हैं, कोई योगाभ्यासी सिद्धियों, चमत्कारों के प्रदर्शन में सन्तुष्ट होते दीखते हैं। कोई योगी क्रमशः धारणा ध्यान समाधि का पक्ष लेकर सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञात समाधि की ही साधना को सर्वोपरि सिद्धि मानते हैं।

निर्विकल्पता से असंप्रज्ञात समाधि को आगे बताया गया है। सम्प्रज्ञात समाधि के लिए आज्ञाचक्र में सुरति योग दृढ़

करना होता है। सुरति स्थिर करने से प्रकाश मिलता है तभी अन्तर में दर्शन होना आरम्भ होता है—ऐसा योगवित आचार्य कहते हैं।

सतत प्रयत्न से ही स्वरूप का बोध होता है तभी मन शान्त समाहित हो जाता है। त्रिगुण से बना हुआ जो कुछ है वही दृश्य है। प्रकाश क्रिया स्थिति उसका स्वभाव है। द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही सुख दुःख का कारण है।

आना जाना बन्धन तथा मुक्ति अन्तःकरण में ही है। न कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता है, न कोई जन्मान्तर में घूमता है, प्रकृति ही देव मनुष्य पशु आदि शरीरों में घूमती है, बँधती है और छूटती है। अहंकार प्रकृति के अन्तर्गत है।

अध्ययन के द्वारा मुझे यह भी विदित होता हुआ कि मूल प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त से अहंकार, अहंकार प्रकृति से पंचतन्मात्रा और 11 इन्द्रियां। पांच तन्मात्रा से पांच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

पुरूष का निवासस्थान अंगुष्टमात्र हृदयस्थित रित्त में है ध्यानयोग द्वारा अन्तर्मुख होने पर स्वयं का बोध होता है।

सर्व वृत्तियों का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती तभी द्रष्टा की परमात्मा स्वरूप में अवस्थित होती है।

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार यह बाहरी साधन हैं। धारणा ध्यान समाधि अन्तरंग साधन है। अनुभवी गुरू से समझे बिना इन साधनों में अनेकों भूलें होती रहती हैं।

इसीलिये साधक सहस्त्रों मिलते हैं परन्तु सिद्धि कोई बिरला ही पाता है।

ध्यान के लिए देह ही देवालय है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही परम देव है, हृदय ही देव–दर्शन का द्वार है, आज्ञाचक्र (दोनों नेत्रों के बीच ललाट के भीतर) से ही उस द्वार का मार्ग मिलता है। अज्ञान अन्धकार के हटते ही मोह ममता अभिमान के मिटते ही यह जीव शिवमय हो जाता है।

शरीर के भीतर भिन्न–भिन्न चक्रों में ध्यान जमाने से अनेकों प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति बताई गई है।

मूलाधार में ध्यान करने से अरोग्य तथा विद्या की प्राप्ति होती है।

स्वाधिष्ठान में ध्यान करने से काव्ययोग तथा विद्या की प्राप्ति होती है।

स्वाधिष्ठान में ध्यान करने से काव्ययोग काम विजय की शक्ति आ जाती है। मणिपुर में ध्यान करने से सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। हृदय में अनाहत चक्र में ध्यान करने से ईशत्व की विवेक की प्राप्ति होती है। कण्ठ–विशुद्ध चक्र में ध्यान करने से वक्तृत्व तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में ध्यान करने से वाक्सिद्धि और सहस्त्रार में ध्यान करने मुक्ति मिलती है–ऐसा अनुभवी योगीजनों का वचन है।

लक्ष्य से तदाकारिता ही ध्यान कहा गया है। वास्तव में ध्यान काम नहीं विश्राम है, उसी विश्राम में कर्ता का दर्शन होता है। क्रिया कर्म ही कर्त्ता के दर्शन में बाधक है।

———————

परमार्थी साधक के लिए आवश्यक क्या है

ज्ञानवृद्धि के लिए ब्रह्मचर्य स्वाध्याय सरलता तथा श्रद्धा आवश्यक है।

सनातन धर्म एवं मानव धर्म आर्य जीवन का विवेक बढ़ाने वाले शास्त्रों में श्रद्धा रखना अन्य धर्मग्रन्थों की निंदा न करना आवश्यक है।

स्वधर्मानुष्ठान, प्रतिकूलता में सहनशक्ति और मौन आवश्यक है। जल मिट्टी द्वारा बाह्य शरीर को शुद्ध रखना और छल कपट क्रोध ईर्ष्या अभिमान दम्भ आदि दोषों के त्याग से भीतर मन को पवित्र रखना आवश्यक है।

अहिंसाब्रत को धारण करके द्वन्द्वों में सम रहना, सर्व हितकारी प्रवृत्ति के मध्य आलस्य और प्रमाद का त्याग करना आवश्यक है।

शरीर तथा परिवार एवं प्राप्त वस्तु में आसक्त न रहना, कुछ भी अपना न मानना, सब कुछ निश्चित समय के लिए मिला हुआ जानना और उसका सदुपयोग करते रहना आवश्यक है।

जीवन को पवित्र सुन्दर बनाये रहने के लिए यज्ञ दान तप ईश्वरस्मरण सदाचार करते रहना और अहं को परमात्मा के समर्पण कर देना आवश्यक है।

सभी प्राणियों में निर्विकार सत्चित् आनन्द रूप आत्मा को देखना, विश्व में सर्व नियन्ता रूप में परमेश्वर को देखना आवश्यक है।

द्रष्टा रूप में दृश्य से सम्बन्ध तोड़ कर जहाँ अनेकता का अन्त होता है उस एकान्त का सेवन करते हुए अनन्त में वृत्ति को विलीन करना मोक्षाभिताषी के लिए आवश्यक है।

सेवा के लिए क्रिया का सदुपयोग, भक्ति के लिए प्रीति का सदुपयोग, तत्व ज्ञान के लिए विद्या विवेक का सदुपयोग आवश्यक है।

सभी दोष गुण में बदलने के लिए जितेन्द्रियता, प्राणियों की सामयिक सहायता सेवा और भगवद्चिन्तन आवश्यक है।

सत्य से प्रेम करना, इन्द्रियों को अपने गोलक में रखना, मन को बाहर न जाने देना, यदि जाय तो बार बार एक आधार में स्थिर करना ध्यानाभ्यासी के लिए आवश्यक है।

भगवान् की लीलाओं का श्रवण करना, उन्हीं को पावन कीर्ति का गान करना, उन्हीं का स्मरण रखना, उनके प्रतिकूल कोई चेष्टा न करना भगवद्–प्रेमी के लिए आवश्यक है।

जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट प्रसन्न रहना, प्रभु के प्रेमियों से प्रीति करना, परोपकारी जनों की सेवा, विरक्तों सन्तों की सेवा, दीन दुखी की सहायता कर्तव्य प्रेमी के लिए आवश्यक है।

वयोवृद्धि, ज्ञानवृद्ध पुरूषों का, गुरू का, अधिक समय तक संग करते रहना जिज्ञासु के लिए आवश्यक है।

जो कुछ अपने साथ हो जाय उसे मंगलमय मान कर प्रसन्न रहना और जो कुछ कर्म किया उसमें सावधान रहना आवश्यक है।

भेदभाव का अन्त करने के लिये, अनेकों दोषों से बचने के लिए, अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता के भय का त्याग आवश्यक है। जहाँ लालच नहीं वहां भय नहीं, जहाँ भय नहीं वहाँ भिन्नता नहीं जहाँ भिन्नता नहीं वहां संघर्ष नहीं, जहाँ संघर्ष नहीं वहां चिर शान्ति का अनुभव होता है।

आन्तरिक रोग की निवृत्ति के लिए गुरू वचनों में विश्वास, सत्संग, धर्मशास्त्र का मनन, नियमित रात्रि में या प्रातः साधनाभ्यास, एकाग्र मन से कर्तव्यपालन, भोगसुखों से वैराग्य आवश्यक है।

अहंता दूर करने के लिए ममता का त्याग आवश्यक है।

जीवन में पूर्ण विश्राम प्राप्त करने के लिए वर्तमान कर्तव्य को पूर्ण करना, वस्तु व्यक्ति के संग के संगी मन को मुक्त कर लेना, परमात्मा के समर्पित होना, कहीं भी अभिमान को स्थान न देना, कामनाओं का त्याग करना, अपना मान कर कुछ भी संग्रह न करना आवश्यक है।

ध्येय की प्राप्ति के लिए जो कुछ साधन नहीं है उसका त्याग करना आवश्यक है। दुखों से बचने के लिए सुखासक्ति का तथा दोषों का त्याग करना आवश्यक है।

सत् परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है पर उसको बताने वाले संत का संग आवश्यक है। सत् का संग करने के लिए असत् संग का त्याग आवश्यक है।

सत् असत् के ज्ञान के लिये, धर्माचरण के लिए, ऐश्वर्य का सम्पत्ति शक्ति का सदुपयोग करने के लिए, शान्ति प्राप्त करने के लिये सद्बुद्ध होना आवश्यक है।

अनन्त शक्ति अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रही है। उसका अनुभव करने के लिये ज्ञान और ध्यान अत्यावश्यक है।

जिस प्रकार पीतल के पात्र को नित्य स्वच्छ रखना आवश्यक है उसी प्रकार साधक को अन्तःकरण की शुद्धि के लिये नित्य नियमपूर्वक साधानाभ्यास आवश्यक है। ईश्वर के निकट होने के लिये इच्छाओं को छोड़ना, आवश्यकता को कम करते जाना आवश्यक है। स्वामी पद प्राप्त करने के लिये अपनी इन्द्रियों को, मन को स्ववश में रखना आवश्यक है।

प्रभु से प्रीति पूर्ण बनाने के लिये पूर्ण अपनत्व का भाव, लोक प्रतिष्ठा का त्याग, निर्धनता, सबसे निराशा, प्रभु के विधान में सन्तोष, प्रभु के योग के लिए व्याकुलता आवश्यक है।

जो नहीं मिलता उससे न मिलने का घोर दुःख और जो नहीं छूटता उसके न छूटने की पूर्ण व्यथा,—मिलने और छूटने के लिये आवश्यक है।

दूसरों के हित के लिए सेवा तथा कर्तव्यपालन के लिए अपना सुधार, अपने दोषों को देखना और उनका त्याग करना आवश्यक है।

तत्काल शान्ति के लिए सुख की चाह का एवं अधिकार का त्याग आवश्यक है। किसी को अपना न मानने से अधिकार लालसा का चाह का त्याग हो सकता है।

लोभ रहित होने के लिये वस्तु को अपनी न मानना, मोह रहित होने के लिये व्यक्ति को अपना न मानना, अभिमान रहित होने के लिये अधिकार को अपना न मानना आवश्यक है।

'मैं' को मिटाने के लिए अपने को कहीं न रखना, आवश्यक है।

जिसका सम्बन्ध वर्तमान से न हो, जिसकी पूर्ति के लिये योग्यता न हो उस अनावश्यक संकल्प का त्याग करना आवश्यक है।

योग बोध प्रेम की प्राप्ति के लिये आगे पीछे का चिन्तन छोड़ना आवश्यक है। व्यर्थ चिन्तन छोड़ने के लिये वर्तमान कर्तव्य को पूर्ण करना आवश्यक है। सन्त ने हमें समझाया कि रागद्वेष मिटाने के लिये सभी को अपना मानना, त्याग प्रेम पूर्ण बनाने के लिये एक प्रभु को ही अपना मानना, संसार में मुक्त होने के लिये किसी को अपना न मानना आवश्यक है।

यह देह असंख्य जीवाणुओं की बनी है इसमें अगणित कीटाणु हैं। यह दुर्गन्ध से भरी है मल मूत्र का मटका है इससे मूढ़ ही रमण करते हैं पण्डितजन इससे विरक्त ही रहते हैं इसलिये विचारवान साधक को मन को साध कर इसमें व्यापक अविनाशी आत्मा को जान लेना आवश्यक है।

आत्मा आकाश से भी विशाल परमाणु से भी सूक्ष्म है, तुम्हारे भीतर आत्मा ही अन्तर का आकाश है उसकी अनुभूति बुद्धि से होती है इस अनुभूति के लिए एकाग्रता अर्थात् पूर्ण मौन होना, शून्य से शान्त होना परमावश्यक है।

जो बुद्धि मन के पीछे चलती है उस बुद्धि को आत्मा के सन्मुख करना आवश्यक है क्योंकि इसी से एकाग्रता प्राप्त होती है।

वैराग्य से विचार जाग्रत होता है वैराग्य को दृढ़ करने के लिये जो कुछ दृश्य दीखता है उसमें कहीं आसक्त न होना

और परमात्मा से मन को लगाना–भक्ति चाहने वाले साधक के लिए आवश्यक है।

सन्त के मतानुसार संसार से निराशा होना, मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी न मानकर परमेश्वर को जानना, सुख को क्षण स्थाई देखना सब कुछ नश्वर परिवर्तन युक्त देखना आवश्यक है।

वेदों में शास्त्रों में तथा गीता में क्या है यह भगवान ही जानते होंगे पर हमारे लिये क्या–क्या कहा है यह हमें जानना आवश्यक है।

जब किसी प्रिय का वियोग हो जाये अथवा हानि हो जाये या अपमान हो जाये तब अपने कर्तव्य को समझने के लिये बुद्धि को स्थिर शान्त रखना आवश्यक है।

बुद्धि को स्थिर रखने के लिये मन को अचंचल और चित्त को शुद्ध रखने के लिये अभिमान का लोभ का द्वेष व तृष्णा का त्याग करना आवश्यक है।

दोषों एवं दुर्विकारों और तृष्णा के त्याग के लिए इनके मूल कारण आत्म अज्ञान की निवृत्ति और अज्ञान की निवृत्ति के लिए आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

यह गुरू सम्मति है कि जब तक तुम अपने को देह मानते रहोगे और देह से सम्बन्धित वस्तुओं व्यक्तियों को अपनी मान कर ममता करते रहोगे तब तक इस ममता अहंता के कारण तुम्हारे मन में आसक्ति एवं कामना बनी ही रहेगी, आसक्ति कामनाके रहते लालच चित्त को क्षुब्ध करता ही रहेगा, जब तक लालच रहेगा तब तक भेद बना ही रहेगा, जब तक भेद

रहेगा तब तक हानि का, वियोग का, अपमान का, भय भी बना रहेगा–जब तक भय रहेगा तब तक अनेकों दोष दुर्विकार बने ही रहेंगे। इसीलिये भय को मिटाने के लिए अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना, 'मैं' को जान लेना परमावश्यक है।

'मैं हूँ' का बोध तो सभी मनुष्यों को है पर 'क्या हूँ'– यह सबको ज्ञात नहीं है। स्वयं को जानने पर ही ज्ञान की प्यास मिटती है। स्वयं को जानना ही ज्ञान है एक सन्त ने बताया कि अपरिसीम जीवन शक्ति का अनुभव करने के लिए, अथवा भक्त को भगवान का दर्शन करने के लिये, मैं को शून्य बना लेना आवश्यक है।

यदि तुम किसी के स्वामी बनते हो, किसी पर शासन करते हो, किसी को आज्ञा देते हो तब तो अपनी ओर देखो। यह नितान्त आवश्यक है कि तुम प्रथम ही किसी के सेवक बन कर, किसी के शासन में रह कर किसी की आज्ञाओं का पालन करने की योग्यता क्षमता प्राप्त कर लो।

जो स्वयं किसी का सेवक नहीं हुआ, किसी की आज्ञा पान करते हुए अनुशासन स्वीकार नहीं किया वह आज्ञा देने की मर्यादा नहीं जानता।

यह गुरू सम्मति है कि दूसरों की सेवा करने के लिये सुख का लालच तथा दुःख का भय, सम्मान की यश की कामना और धन का लोभ ईर्ष्या द्वेषादि विकार छोड़ना आवश्यक है।

सन्त ने हमें समझाया– कि यह कैसे सम्भव है कि तुम परमेश्वर के विधान से मिली हुइ्र देहादिक वस्तुओं में आसक्त बने रहो, सम्बन्धियों को अपना मानकर ममता बढ़ाते रहो, अपने को श्रेष्ट कुलीन मानकर अकुलीन अन्त्यजों सें घृणा

करते रहो, दूसरों के प्रति कृपण बने रहो, कठोरता पूर्वक कटु वाक्यों को प्रयोग करो फिर भी भगवान की भक्ति की आशा करो।

जिन समर्थक करूणासिन्धु भगवान की कृपा करूणा चाहते हो वह भगवान दीन दलितों के प्रति प्रेम दान करते रहें दीनबन्धु कहलायें और तुम दीनों दलितों की छाया से बचते रहो, अमीरों के साथी या सेवक बनो तब उनकी कृपा के अधिकारी कैसे बन सकते हो?

मैंने यह भी सुना है कि परमप्रभु को कोई किसी प्रकार की कला से चतुरता से सुन्दरता से नहीं रिझा सकता, परम प्रभु को कोई बलवान धनवान विद्वान श्रीमान् अपने वश में नहीं कर सकता उन्हें स्ववश करने के लिये उन्हीं से मिली हुई प्रीति सर्वोत्कृष्ट साधन है।

निष्काम प्रीति के द्वारा वृद्ध ही नहीं कोई बालक भी प्रभु का प्रेम प्राप्त कर सकता है। प्रभु–प्रेम प्राप्त करने के लिये धनी, निर्धन, बलवान तथा निर्बल ब्राह्मण या चाण्डाल शिक्षित या अशिक्षित सभी का समान अधिकार है फिर भी परम प्रभु के चाहने वाले कोई बिरले ही दीखते है।

चाहनहारे सुख सम्पत्ति के जग में मिलत घनेरे।

बिरले कबहुँ मिलत प्रभु प्रेमी नगर बगर हेरे।।

अनुभवी सन्तों के संग से यह ज्ञात हो सका कि समाधि के लिये अनन्त चैतन्य सिन्धु में अपने 'मैं' रूपी बिन्दु को देख लेना शब्द और विचार की सीमा को पार कर शून्य में स्थिर होना आवश्यक है।

परमात्मा के योगानुभव के लिए धन से स्त्री से भूमि से परापेक्षी सुखोपभोग से मन को हटा लेना आवश्यक है– इनमें

से किसी एक में भी मन लगा रहा तब तक परमात्मा में मन नहीं लगता।

एक सन्त बता रहे थे कि वृत्ति के शान्त होने पर दिव्य दृष्टि खुलने पर शरीर के भीतर मल मूत्र आदि सब वस्तु दीख पड़ती हैं, अनेकानेक दृश्य दीखते हैं परन्तु साधक को इस प्रकार के चमत्कारों को गुप्त रखना आवश्यक है।

चमत्कार वही दिखाता है जिसे संसार से मान की, भोग की, धन की चाह होती है, संसार का बड़े से बड़ा ऐश्वर्यवान मनुष्य यदि प्रसन्न हो जाय तो मान धन भोग सामग्री ही दे सकता है, मुक्ति, शान्ति, आनन्द, परमात्मा कोई भी नहीं दे सकता इसीलिये विवेकी साधक को संसार से विमुख होना परमात्मा के सन्मुख होना आवश्यक है।

'मैं' के अभिमान से भेद बुद्धि बनी ही रहती है। अनन्त चैतन्य सिन्धु से यह 'मैं' एक घड़े के समान है। घड़े भीतर सिन्धु का जल सीमित है, घड़े के बाहर जो कुछ है वह असीम 'मैं' रूपी घट के भीतर जो कुछ है वह अपरिसीम चैतन्य सिन्धु का ही है—यहजान लेना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक है।

एक सन्त ने बताया कि आकाश से मिलने के लिये आकाश जैसा होना, इसी प्रकार भगवान् से मिलने के लिये भगवान जैसा होना ब्रह्म एवं सत्य से मिलने के लिए उसी मय होना आवश्यक है।

जो 'मैं' देहादिक वस्तुओं अथवा व्यक्तियों से मिल कर उन्हीं जैसा बन जाता है वही 'मैं' ब्रह्म से मिलकर ब्रह्म जैसा हो जाता है, वह जड़ मय न रह कर चिन्मय हो जाता है, इसीलिये सत्य से मिलने के लिए असत्संग का अभ्यास छोड़ना आवश्यक है।

अनुभवी सन्त की सम्मति है कि साहसपूर्वक मय छोड़कर सत्य के अनुभव के लिए विचार से निर्विचार में, शब्द से शून्य में, पर से लौट कर स्व में स्थिर होना परमावश्यक है।

यह गुरू वाक्य है—आप विचारों में नहीं—उसमें रहें जो विचारों के बीच में है, वहीसब कुछ का परमाश्रय है।

विचार चैतन्य सिन्धु में उठती हुई तरंगों के समान हैं वरंगों में स्थिर तत्व का दर्शन नहीं होता। जहाँ तक नाम रूप मय संसार है वहाँ तक विचार के द्वारा संसार के प्रभाव को देखना आवश्यक है किन्तु शून्य की गहराई में प्रवेश करने के लिए विचार रूपी लहरों से बचना भी आवश्यक है।

जहाँ साधक धन का, भोग सामग्री का, वैभव का, मान बड़ाई का त्याग करता है वहीं पर सभी प्रकार के त्याग का अहंकार छोड़ना भी आवश्यक है।

एक सन्त ने समझाया कि अज्ञानी त्याग करते हैं और ज्ञानी से त्याग हो जाता है। जिसे त्याग का स्मरण रहता है वह अहंकारी है क्योंकि स्मरण से अहंकार पुष्ट होता है तृप्त होता है।

त्याग के पश्चात् जो पा जाता है वही त्याग को भूल जाता है। जब तक त्याग का स्मरण है तब तक त्याग नहीं है। त्याग का अहंकार सत्यानुभूति में बाधक है। सत्य की उपलब्धि होते ही साधक को कृतज्ञता से विनय से परिपूर्ण होना अनिवार्य है। स्वयं को न जानना अज्ञान है अविद्या है। स्वयं के अज्ञान से ही काम, क्रोध, हिंसा, घृणा, तृष्णा, मोह, लोभ, संग्रह, की प्रवृत्ति प्रबल रहती है।

भय से, भेद भावना से, संघर्ष से, हिंसा से, परिग्रह से, संग्रह से, तृष्णा से, काम क्रोध लोभादि से मुक्त होने के लिये अपने आपको जान लेना अर्थात् अज्ञान से मुक्त होना परमाश्यक है। अनेकों आश्चर्यों में यह सबसे बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य और सब कुछ जानता है परन्तु अपने को नहीं जानता है–यह आश्चर्य की बात एक सन्त कह रहे थे।

आत्म–अज्ञान के स्थान में जब आत्मज्ञान हो जाता है तब स्वधर्म का विवेक होता है अनाचार स्वतः ही सदाचार में बदल जाता है। संसार के देखने की दृष्टि ही बदल जाती है।

एक सन्त के वाक्य हैं–स्वयं ही सत्य के जानने का एकमात्र द्वार है।

जो स्वयं की महिमा को नहीं जानता वही ब्रह्म नाम रूप में मोहित होता है।

आत्मा की अनुभूति के लिए विचार नहीं ज्ञान आवश्यक है। जो अज्ञान को जानता है वही ज्ञान है।

अनन्त चिति सत्ता का बोध विचार तरंगों के शान्त होने पर होता है। एक सन्त ने हमें समझाया था कि परमात्मा के निरन्तर रहने वाले योगानुभूति के लिए विचारों का संचय न करो प्रत्युत विचारों की उत्पत्ति जहाँ से है वहीं शान्त होकर विश्राम करो।

जहाँ तक 'मैं' बना है वहाँ तक परमात्मा ओझल (छिपा सा) रहता है। देह संघात के भीतर 'मैं' रूपी स्फुरण को पहिचान लेना आवश्यक है।

सन्त ने कहा था कि जब आप किसी के कोई नहीं हैं तब जो शेष रहते हैं वही आप हैं जहाँ आप हैं वहाँ तक सम्बन्धियों की पहुँच नहीं होती।

जब तक कुछ होना चाहते हो या कुछ पाना चाहते हो तब तक वासना कामना के घेरे से नहीं निकल सकोगे। चाहों इच्छाओं का सम्बन्ध संसार से है जो कुछ अपने से भिन्न है वह संसार है। संसार की ओर देखना ही सत्य परमात्मा से विमुख होना है।

अपने से जो भिन्न है वह विचार से जाना जाता है, परन्तु 'स्व' को ध्यान से ही जाना जाता है।

सत्य के ध्यान के लिए पर का ध्यान छोड़ना होगा, ध्यान किसी प्रकार की क्रिया से नहीं होता। जब हम कुछ भी नहीं करते हैं तब उसका बोध होता है—जो निरन्तर है, जो हम में है, जिसमें हम हैं और जिसकी सत्ता से हम सब कुछ करते रहते हैं।

एक सन्त से मैंने सुना था कि दृष्टि में दृश्य है तो विचार होगा और दृष्टि जब दृष्य से मुक्त है तो ध्यान होगा।

विचार तरंगे जब शान्त होती हैं तब चैतन्य सिन्धु के दर्शन होते हैं जब जानने के लिये कुछ नहीं रहता तब ज्ञान जाग्रत होता है।

अनुभूति को शब्द देते ही विचार का जन्म होता है। एक दार्शनिक के वाक्य हैं—शब्द से जगत को और शून्य से स्वयं को जाना जाता है। दर्शन का प्रभाव बाहर लाता है, दर्शन के ही प्रभाव से अन्तर्मुख हुआ जाता है। बहिर्मुख होकर संसार को माना जाता है, अन्तर्मुख होकर सत्य को जाना जाता है।

शास्त्रों में शब्द हैं, स्वयं में सत्य है, इसीलिए स्वयं को ही जानना आवश्यक है।

जब तक मैं कुछ बनना या होना चाहता हूँ तब तक उसे नहीं देख सकता जो 'मैं' हूँ।

सत्य के दर्शन के लिए चित्त का शान्त होना शून्य होना निर्विकार होना परमावश्यक है।

प्रियतम प्रभु को पाना चाहते हो तो अपने में गोता लगाना आवश्यक है।

हम अन्य को ही देखने में व्यस्त रहते हैं इसीलिए 'स्व' की विस्मृति रहती है।

'मैं' का मिट जाना महा मृत्यु है वहीं पर समाधि सिद्ध होती है। जब तक 'मैं' है तब तक जन्म मरण चलता रहता है।